ॐ

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित

श्री प्रवचनसार टीका

तृतीय खंड

अर्थात्

चारित्रतत्त्वदीपिका।

टीकाकार—

श्रीमान् जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर—

ब्रह्मचारीजी सीतलप्रसादजी.

समयसार, नियमसार, समाधिशतक, इष्टोपदेश आदिके उल्थाकार व गृहस्थधर्म, आत्मधर्म, प्राचीन जैन स्मारक आदिके रचयिता तथा ऑ० सम्पादक "जैनमित्र" व "वीर"—सूरत।

प्रकाशक—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया—सूरत।

प्रथमावृत्ति] फाल्गुन वीर सं० २४५२ [प्रति ११००

"जैनमित्र" के २६ वें वर्षके ग्राहकोंको इटावा निवासी लाला भगवानदासजी जैन अग्रवाल सुपुत्र लाला दुलामरायजीकी ओरसे भेंट।

मूल्य १।।) एक रुपया बारह आना।

प्रकाशक-
मूलचन्द किसनदास कापडिया
ऑ० सम्पादक, दिगम्बर जैन व प्रकाशक
जैनमित्र तथा मालिक दिगम्बर जैन
पुस्तकालय-सूरत।

मुद्रक-
मूलचन्द किसनदास कापडिया,
जैनविजय प्रेस खपाटिया चकला,
तामसागर्ना पास सूरत।

भूमिका।

यह श्री प्रवचनसार परमागमका तीसरा खंड है। इसके कर्ता स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य हैं जो मूलसंघके नायक व महान् प्रसिद्ध योगीश्वर होगए हैं। आप वि० सं० ४९ में अपना अस्तित्व रखते थे। इस तीसरे खण्डमें ९७ गाथाओंकी संस्कृतवृत्ति श्री जयसेनाचार्यने लिखी है जब कि दूसरे टीकाकार श्री अमृतचंद्राचार्यने केवल ७५ गाथाओंकी ही वृत्ति लिखी है। श्री अमृतचन्द्र महाराजने स्त्रीको मोक्ष नहीं होसक्ती है इस प्रकरणकी गाथाएं जो इसमें नं० २० से ४० तक हैं उनकी वृत्ति नहीं दी है। संभव हो कि ये गाथाएं श्री कुंदकुंदस्वामी रचित न हों, इसीलिये अमृतचंद्रजीने छोड़ दी हों। श्री जयसेनाचार्यकी वृत्ति भी बहुत विस्तारपूर्ण है व अध्यात्मरससे भरी हुई है। हमने पहले गाथाका मूल अर्थ देकर फिर संस्कृत वृत्तिके अनुसार विशेषार्थ दिया है। फिर अपनी बुद्धिके अनुसार जो गाथाका भाव समझमें आया सो भावार्थमें लिखा है। यदि हमारे अज्ञान व प्रमादसे कहीं भूल हो तो पाठकगण क्षमा करेंगे व मुझे सूचित करनेकी कृपा करेंगे। हमने यथासम्भव ऐसी चेष्टा की है कि साधारण बुद्धिवाले भी इस महान् शास्त्रके भावको समझकर लाभ उठा सकें। लाला भगवानदासजी इटावाने आर्थिक सहायता देकर जो ग्रन्थका प्रकाश कराया है व मित्रके पाठकोंको भेटमें अर्पण किया है उसके लिये वे सराहनाके योग्य हैं।

रोहतक
फागुन वदी ४ सं० १९८२
ता० २-२-२६

जिनवाणी भक्त—
ब्र० सीतलप्रसाद।

विषय–सूची—

श्री चारित्रतत्त्वदीपिका।

श्रीमान् लाला भगवानदासजी अग्रवाल जैन
सुपुत्र श्रीमान् लाला हुलासरायजी जैन-इटावा।

Jain Vijaya Pres Surat

जीवन चरित्र

ला० भगवानदासजी अग्रवाल जैन इटावा नि०।

यू० पी० प्रांतमें इटावा एक प्रसिद्ध बस्ती है। यहा अग्रवाल जातिकी विशेष सख्या है।

यहा ही ला० भगवानदासजी अग्रवाल जैन गर्ग गोत्रके पूज्य पिता ला० हुल्लासरायजी रहते थे। आप वडे ही धीर व धर्मज्ञ थे। धर्मचर्चाकी धारणा आपको विशेष थी। आपने श्रीगोम्मटसार, तत्वार्थसूत्र, मोक्षमार्गप्रकाश आदि जैन धर्मके रहस्यको प्रगट करनेवाले धार्मिक तात्विक ग्रन्थोंका कई बार स्वाध्याय किया था। बहुतसी चर्चा आपको कठाग्र थी। व्यापार बहुत शांति, समता व सत्यतासे स्वदेशी कपडेकी आढत व लेन देन आदिका करते थे। इटावेमें स्वदेशी कपडा अच्छा बनता है, जिसे आप अच्छे प्रमाणमें खरीदते थे और फिर आढतसे बाहर (अनेक शहरोंमें) व्यापारियोंको भेजा करते थे। सत्यताके कारण आपने अच्छी प्रसिद्धि इस व्यापारमें पाई थी और न्यायपूर्वक धन भी अच्छे प्रमाणमें कमाया था।

आपके ६ पुत्र व ३ पुत्रियां थीं, जिनकी और भी सतानें आज है। इन नौ पुत्र पुत्रियोंके विवाह आपने अपने सामने कर दिए थे व ६० वर्षकी आयुमें समाधिमरण किया था।

आप अपनी मृत्युका हाल ४ दिन पहले जान गए थे अत पहले दिन धनका विभाग किया। आपने अपनी द्रव्यका ऐसा अच्छा विभाग किया कि अपनी गाढी कमाईकी आधी द्रव्य तो मन्दिरजीको "जो ... आपसे पवित्र है उसके करनेसे" सर्व

अपने पुत्र पौत्रोंको दी। दूसरे दिन उन पुरुषोंको बुलाकर "जिनसे किसी प्रकार रंजस थी" क्षमा कराई और आपने भी क्षमाभाव धारण किए। तीसरे दिन आपने दवा वगैरहका भी त्याग कर दिया तथा चौथे दिन सर्व प्रकारके आहार, परिग्रह व जलका भी त्यागकर णमोकारमंत्रकी आराधना करते २ ही शुभ भावोंमें अपने पौद्गलिक शरीरको छोड़कर पंचत्वको प्राप्त हुए।

ला० भगवानदासजीको हर समय आप अपने पास रखते थे व वे भी पिताजीकी सेवामें हमेशा तन्मय रहते थे तथा धर्मचर्चा कर उनसे नया२ बोध ले रहते थे। ला० भगवानदासजीने १६ वर्षकी अल्पआयुमें स्कूलकी प्रथमा परीक्षा उत्तीर्ण की। आपको पिताजी व अन्य भाइयोंमें धर्मचर्चा करनेका बहुत शौक था व है भी। पिताजीने इन्हें धर्मी समझकर सर्वार्थसिद्धिका स्वाध्याय करनेको दी थी, जिसके मनन करनेसे आपके हृदय-कपाट खुल गए। फिर क्या था इन्हें धार्मिक ग्रन्थोंके स्वाध्यायकी चाट लग गई और आपने गोम्मटसार, मोक्षमार्गप्रकाश आदि ग्रन्थोंका भी मनन करना शुरू कर दिया, जिससे जैनधर्ममें आपकी अटल श्रद्धा व भारी भक्ति पैदा होगई।

ला० भगवानदासजीका जन्म [illegible] ११ सं० १९३८में हुआ था। १८ [illegible] आपको पिताजीने स्वदेशी कपड़ेकी दुकान [illegible], परन्तु दो वर्ष बाद जब पिताजी तीर्थयात्राको गए तो काम दूकानका काम सम्भालनेके लिए कह गए, आपने पिताजीकी आज्ञा शिरोधार्यकर उनकी दूकानका काम उनके आनेतक अच्छी तरह सम्हाला और उनके आनेके बाद फिर स्वदेशी दुकान १२ वर्ष तक की व न्यायपूर्वक

द्रव्य भी खूब कमाया (जिसका ही यह परिणाम है कि आपकी इस गाढ़ी कमाईका उपयोग इस उत्तम मार्ग शास्त्रदानमें होरहा है।)

पश्चात् १९७१ में गल्ले रंगेरहकी आड़तका काम होमगंज बाजारमें अपने पिताजीके नाम 'हुलासराय भगवानदास'से शुरू किया जो आज भी आप आनंदके साथ कर रहे हैं व द्रव्य कमा रहे हैं।

श्रीमान जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी गित वर्ष चातुर्मासके कारण आषाढ सुदी १४से कार्तिक सुदी ११तक इटावा ठहरे थे तब आपके उपदेशसे इटावाके भाई-जो धर्ममें प्राय विमुख थे-फिर धर्ममार्गमें लगगए। इटावामें जो आज कन्याशाला व पाठशाला दृष्टिगत होरही है वह आपके ही उपदेशका फल है। ला० भगवानदासजीके छोटे भाई लक्ष्मणप्रसादजीपर आपके उपदेशका भारी प्रभाव पड़ा, जिससे आपने २०)रु० मासिक पाठशालाको देनेका वचन दिया। इसके अलावा और भी बहुत दान किया व धर्ममें अच्छी रुचि हो गई है। इसी चातुर्मासमें पूज्य ब्रह्मचारीजीने चारित्रतत्त्वदीपिका (प्रवचनसार टीका तृतीय भाग) की सरल भाषा वचनिका अनेक ग्रन्थोंके उदाहरणपूर्ण अर्थ भावार्थ सहित लिखी थी, जो ब्रह्मचारीजीके उपदेशानुसार ला० भगवानदासजीने अपने द्रव्यसे मुद्रित कराकर जैनमित्रके २६ वें वर्षके ग्राहकोंको २४०१में भेटकर जिनवाणी प्रचारका महान् कार्य किया है। आपकी यह धर्म व जिनवाणी भक्ति सराहनीय है।

आशा है अन्य लक्ष्मीपुत्र भी इसी प्रकार अन्य लिखी जानेवाली टीकाओंका प्रकाशन कराकर व ग्राहकोंको पहुंचाकर धर्मप्रचारमें अपना कुछ द्रव्य खर्च करेंगे।

प्रकाशक।

शुद्धाशुद्धि पत्र ।

पृष्ठ	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
७	२४	घर पढो	घर पनो
१९	२०	भक्तिके	भक्तिनो
२१	११	उमके	उसना
?५	४	ततसिद्धि	तम्य सिद्धि
२९	१५	सवृणोत्प	सवृणोत्य
३८	२०	र्ग	रद्दित
४६	१०	घेने	एते
७२	१०	दक्खा	दुक्खा
७४	१६	ण्हणादि	ण्हाणादि
७९	२२	जादि	जदि
९०	७	पन्ता	पढना
१००	१०	हिद	हिन
१०३	४	सवधानी	सावधानी
११४	५	हिंमा	हिंसा
११७	९	कार्यों	नायो
१२०	१३	सूचयत्य	सुचयत्य
१२४	२३	भक्तिनी	मुक्तिनी
१३९	१८	वत्ति	वृत्ति
१४१	१५	मुरयों	पुरयो
१५३	१	चीर	चोर

त्रियो	त्रियोंके
ठीक नहीं	ठीक ही
पूनावाना	पूजा पाना
अचार्य	आचार्य
अग्रहो	आग्रहो
पढम	पढम
विरुद्ध हो	निरुद्ध न हो
शारीरादि	शरीरादि
व्यतिरेक्त	व्यतिरेक
समोगे	मनोगे
चलाना है	चलता है
आत्माके	आत्माको
परिणामन	परिणमन
स्वानुभाव	स्वानुभव
दृष्ट	इष्ट
समय	सगय
विराये	विरामे
×	हवे) वह आचरण
उपाध्याय	उपाध्याय माधुमें जो प्रीति
क	कम होता
कमी है इससे	कमी होनी है तो
आदर्श	आदेश
बने	पने

२८६	१	चुदा	चुदा
२८९	१४	होते हुए	होते
२९०	७	तिर्यंच या	तिर्यंच
२९३	९	क्मिी	क्सिीका नाश
३०३	१७	बना देना	बता देना
,,	२०	मटल	त्मडल
३१७	१३	उपमग	उत्सर्ग
३१९	४	समाश्रया	समाश्रय
३२१	१९	अजीनका	जीव अजीव
२२७	३	वेन्ना न	वन्ना नही होती है न
३८	६	इद्रियोंको	इद्रियोंकि
,,	२१	पर	नर
३४१	२३	×	या स्वानुभन नान होना
३६१	२१	मुमेर	सुमेर
३६४	११	मझ	मझार
,,	१६	शुक्ला	कृष्णा
३६३	१०	ठाडे	टाडे

श्रीमत्कुंदकुंदस्वामी विरचित—
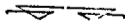
श्रीप्रवचनसारटीका।

तृतीय खण्ड

अर्थात्

चारित्र तत्वदीपिका *

मङ्गलाचरण।

वन्दों पार्श्व परम पद, निज आतम रस लीन।
रत्नत्रय स्वामी महा, राग दोष मद हान ॥ १ ॥
वृषभ आदि महावीर लौं, चौबीसों जिनराय।
भरतक्षेत्र या युग विषैं, धर्म तीर्थ प्रगटाय ॥ २ ॥
कर निर्मल निज आत्मको, हो परमातम सार।
अन्त बिना पीवत रहैं, ज्ञान-सुधामृत धार ॥ ३ ॥
राम हनू सुग्रीव वर बाहुबलि इन्द्रजीत।
गौतम जम्बू आदि बहु, हुए सिद्ध मलजीत ॥ ४ ॥
जे जे पा स्वाधीनता, अरु पवित्रता सार।
हुए निरञ्जन ज्ञान धन, वन्दूं बारम्बार ॥ ५ ॥

---

* प्रारम्भ ता० १५-१-२४ मिती पौष सुदी ६ वीर स० [illegible] ल्याण, कुरनो (शोलापुर)।

मोक्षधरको आदि हैं, वर्तमान भगवान ।
दश दो विहर विदेहमें, धर्म करावत पान ॥ ६ ॥
तिनको नमन करूं रुचि, श्रुतकेवलि उर ध्याय ।
भद्रबाहु अन्तिम भये धरूं मन हुलसाय ॥ ७ ॥
तिनके शिष्य परम भए, चन्द्रगुप्त सम्राट ।
दीक्षा धर साधू हुए, त्याग परिग्रह ठाट ॥ ८ ॥
वन्दूं ध्याऊं साधु बहु, जिन पाया अध्यात्म ।
पर तान निज ध्यानमें, हुए शातकर आत्म ॥ ९ ॥
कुन्दकुन्द मुनिराजको, ध्याऊं बारम्बार ।
योगीश्वर ध्यानी महा, ज्ञानी परम उदार ॥ १० ॥
न्यायवान उपकार कर सन्मारग दर्शाय ।
मोह ध्वांत नाशक परम, सुखमय ग्रन्थ बनाय ॥ ११ ॥
निज आतम रस पानकर, भव्य जीव पिलवाय ।
जैसा उद्यम मुनि किया कथन करी नहिं जाय ॥ १२ ॥
प्रवचनसार महान यह परमागम गुण खान ।
प्राकृत भाषामें रच्यो, सब जीवन हित जान ॥ १३ ॥
इनपर वृत्ति सुघटित अमृतचन्द मुनीश ।
करी उसीके भावको हिन्दी लिख हमीश ॥ १४ ॥
द्वितीयवृत्ति जयसेनकृत अनुभव रससे पूर्ण ।
बालबोध हिन्दी नहीं, लिखी कीय अघचूर्ण ॥ १५ ॥
इस रुख हम उद्यम किया, हिन्दी हित उर माय ।
निज मति सम यह दीपिका, उद्योतो हुलसाय ॥ १६ ॥
तृतीय खण्ड चारित्रको वर्णन बहु हितकार ।
पाठकगण रुचि धर पढ़ो, पालो शक्ति सम्हार ॥ १७ ॥

प्रारम्भ ।

आगे चारित्रतत्त्वदीपिकाका व्याख्यान किया जाता है ।

उत्थानिका—इस ग्रन्थका जो कार्य या उसकी अपेक्षा विचार किया जाय तो ग्रन्थकी समाप्ति दो खडोंमे होचुकी है, क्योंकि "उवसपयामि सम्म" मे साम्यभावमें प्राप्त होता हू इस प्रतिज्ञाकी समाप्ति होचुकी है ।

तौ भी यहा क्रमसे ९७ सत्तानवे गाथाओं तक चूलिका रूपसे चारित्रके अधिकारका व्याख्यान प्रारम्भ करते है । इसमे पहले उत्सर्गरूपसे चारित्रका सक्षेप कथन है उसके पीछे अपवाद रूपसे उसी ही चारित्रका विस्तारसे व्याख्यान है । इसके पीछे श्रमणपना अथात् मोक्षमार्गका व्याख्यान है । फिर शुभोपयोगका व्याख्यान है इस तरह चार अन्तर अधिकार ह । इनमेंसे भी पहले अन्तर अधिकारमे पाच स्थल है । "एव पणमिय सिद्ध" इत्यादि सात गाथाओं तक दीक्षाके सन्मुख पुरुषका दीक्षा लेनेके विधानको कहनेकी मुख्यतासे प्रथम स्थल है । फिर "वद समिदिंदिय" इत्यादि मूलगुणको कहते हुए दूसरे स्थलमें गाथाए दो है । फिर गुरुकी व्यवस्था बतानेके लिये "लिंगग्गहणे" इत्यादि एक गाथा है । वैसे ही प्रायश्चितके कथनकी मुख्यतासे "पयदह्मि" इत्यादि गाथाए दो है इस तरह समुदायसे तीसरे स्थलमें गाथाए तीन हैं । आगे आधार आदि शास्त्रके कहे हुए क्रमसे साधुका सक्षेप समाचार कहने लिये 'अधिवासे व वि" इत्यादि चौथे स्थलमें गाथाए तीन हैं । उसके ... भाव हिसा द्रव्य हिंसाके त्यागके लिये "अपय-

चादो चरया" इत्यादि पांचवें स्थलमें सूत्र छ हैं। इस तरह २१ इक्कीस गाथाओंमें पांच स्थलोंसे पहले अन्तर अधिकारमें समुदाय पातनिका है।

पहली गाथाकी उत्थानिका-आगे आचार्य निकटभव्य जीवोंको चारित्रमें प्रेरित करते हैं।

गाथा—

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ १ ॥

संस्कृतछाया—

एवं प्रणम्य सिद्धान् जिनवरवृषभान् पुनः पुनः श्रमणान् ।
प्रतिपद्यतां श्रामण्यं यदीच्छति दुःखपरिमोक्षम् ॥ १ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ -(जदि) जो (दुक्खपरिमोक्खं) दुःखोंसे छुटकारा (इच्छदि) यह आत्मा चाहता है तो (एवं) ऊपर कहे हुए अनुसार (सिद्धे) सिद्धोंको, (जिणवरवसहे) जिनेन्द्रोंको, (समणे) और साधुओंको (पुणो पुणो) वारवार (पणमिय) नमस्कार करके (सामण्णं) मुनिपनेको (पडिवज्जदु) स्वीकार करे।

विशेषार्थ-यदि कोई आत्मा संसारके दुःखोंसे मुक्ति चाहता है तो उसको उचित है कि वह पहले कहे प्रमाण जैसा कि "एस सुरासुर मणुसिंद" इत्यादि पांच गाथाओंमें दुःखसे मुक्तिके इच्छक मुझने पंच परमेष्टीको नमस्कार करके चारित्रको धारण किया है अथवा दूसरे पूर्वमें कहे हुए भव्योंने चारित्र स्वीकार किया है इसी तरह वह भी पहले अजन पादुका आदि लौकिक सिद्धियोंसे विलक्षण अपने आत्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके धारी सिद्धोंको, जिनेंद्रोंमें

श्रेष्ठ ऐसे तीर्थंकर परम देवोंको तथा चैतन्य चमत्कार मात्र अपने आत्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रयके आचरण करनेवाले, उपदेश देनेवाले तथा साधनमें उद्यमी ऐसे श्रमण शब्दसे कहने योग्य आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंको वार वार नमस्कार करके साधुपनेके चारित्रको स्वीकार करे। सासादन गुणस्थानसे लेकर क्षीण कषाय नामके बारहवें गुणस्थान तक एक देश जिन कहे जाते हैं तथा शेष दो गुणस्थानवाले केवली मुनि जिनवर कहे जाते हैं, उनमें मुख्य जो हैं उनको जिनवर वृषभ या तीर्थंकर परमदेव कहते हैं।

यहां कोई शंका करता है कि पहले इस प्रवचनसार ग्रन्थके प्रारम्भके समयमें यह कहा गया है कि शिवकुमार नामके महाराजा यह प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं शांतभावको या समताभावको आश्रय करता हूं। अब यहां कहा है कि महात्माने चारित्र स्वीकार किया था। इस कथनमें पूर्वापर विरोध आता है। इसका समाधान यह है कि आचार्य ग्रन्थ प्रारम्भके कालसे पूर्व ही दीक्षा ग्रहण किये हुए हैं किन्तु ग्रन्थ करनेके बहानेसे किसी भी आत्माको इस भावनामें परिणमन होते हुए आचार्य दिखाते हैं। कहीं तो शिवकुमार महाराजको व कहीं अन्य भव्य जीवको। इस कारणसे इस ग्रन्थमें किसी पुरुषका नियम नहीं है और न कालका नियम है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ-आचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य पहले भागमें आत्माके केवलज्ञान और अतींद्रिय सुखकी अद्भुत महिमा बता चुके हैं-उनका यह परिश्रम इसीलिये हुआ है कि भव्य जीवको अपने

शुद्ध अरहंत तथा सिद्धपदकी प्राप्तिकी रुचि उत्पन्न हो तथा सांसारिक तुच्छ पराधीन ज्ञान तथा तुच्छ पराधीन अतींद्रिय सुखसे अरुचि पैदा हो। फिर जिसको निजपदकी रुचि होगई है उसको द्रव्योंका यथार्थ स्वरूप बतानेके लिये दूसरे खंडमें छ द्रव्योंका भले प्रकार वर्णनकर आत्मा द्रव्यको अन्य द्रव्योंसे भिन्न दर्शाया है। जिससे शिष्यको पदार्थोंका सच्चा ज्ञान हो जावे और उसके अंतरङ्गसे सांसारिक अनेक स्त्री, पुत्र, स्वामी, सेवक, मकान, वस्त्र, आभूषण आदि क्षणभंगुर अवस्थाओंसे ममत्व निकल जावे तथा भेद विज्ञानकी कला उसको प्राप्त होजावे जिससे वह श्रद्धान व ज्ञानमें सदा ही निज आत्माको सर्व पुद्गल मलसे रहित शुद्ध एकाकार ज्ञानानन्दमय जाने और माने।

अब इस तीसरे खंडमें आचार्यने उस भेदविज्ञान प्राप्त जीवको रागद्वेषकी कालिमाको धोकर शुद्ध वीतराग होनेके लिये चारित्र धारण करनेकी प्रेरणा की है क्योंकि मात्र ज्ञान व श्रद्धान आत्माको चारित्र बिना शुद्ध नहीं कर सक्ता। चारित्र ही वास्तवमें आत्माको कर्मबंधरहित कर परमात्मपदपर पहुचानेवाला है।

इस गाथामें आचार्यने यही बताया है कि हे भव्य जीव यदि तू संसारके सर्व आकुलतामय दुःखोंसे छूटकर स्वाधीनताका निराकुल अतींद्रिय आनन्द प्राप्त करना चाहता है तो प्रमाद छोड़कर तय्यार हो और वारवार पांच परमेष्टियोंके गुणोंको स्मरणकर उनको नमस्कार करके निर्ग्रन्थ साधु मार्गके चारित्रको स्वीकार कर, क्योंकि गृहस्थावस्थामें पूर्ण चारित्र नहीं होसक्ता और पूर्ण चारित्र बिना आत्माकी पूर्ण प्राप्ति नहीं होसक्ती इसलिये

सर्व धनधान्यादि परिग्रह त्याग नग्न दिगम्बर मुनि हो भले प्रकार चारित्रका अभ्यास करना जरूरी है। यद्यपि चारित्र निश्चयसे निज शुद्ध स्वभावमें आचरणरूप व रमनरूप है तथापि इस स्वरूपाचरण चारित्रके लिये साधुपदकीसी निराकुलता तथा निरालम्बता सहकारी कारण है। जैसे बिना मसालेका सम्बन्ध मिलाए वस्त्रपर रंग नहीं चढ़ता वैसे बिना व्यवहार चारित्रका संबंध मिलाए अन्तरङ्ग साम्यभावरूप चारित्र नहीं प्राप्त होसक्ता है, इसलिये आचार्यने सम्यग्दृष्टी जीवको चारित्रवान होनेकी शिक्षा दी है।

स्वामी समंतभद्राचार्य भी अपने रत्नकरण्डश्रावकाचारमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका कथनकरके सम्यग्दृष्टी जीवको इस तरह चारित्र धारनेकी प्रेरणा करते है—

> मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।
> रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ ४७ ।

भावार्थ—मिथ्यात्वरूप अंधकारके दूर होनेपर सम्यग्दर्शनके लाभसे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिको पहुंचा हुआ साधु रागद्वेषको दूर करनेके लिये चारित्रको स्वीकार करता है।

ये ही स्वामी स्वयंभूस्तोत्रमें भी साधुके परिग्रहरहित चारित्रकी प्रशंसा करते हैं—

> गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान् दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रयत् ।
> समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ॥१६॥

भावार्थ—हे अभिनन्दननाथ ! आप आत्मीक गुणोंके धारण करनेसे सच्चे अभिनन्दन है। आपने उस दयारूपी बहूको आश्रयमें लिया है जिसकी क्षमारूपी सखी है। आपने स्वात्म-

समाधिके साधनको प्राप्त किया है और इसी समाधिकी प्राप्तिके लिये ही आपने अपनेको अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहत्यागरूप दोनो प्रकारके निर्ग्रंथपनेसे शोभायमान किया ॥ १ ॥

उत्थानिका—आगे जो श्रमण होनेकी इच्छा करता है उसको पहले क्षमाभाव करना चाहिये । उवट्ठिदो होदिसो समणो इस आगेकी छठी गाथामें जो व्याख्या है उसीको मनमें धारण करके पहले क्या २ काम करके साधु होनेगा उसीका व्याख्यान करते हैं—

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोइदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारम् ॥ २ ॥

आपृच्छ्य बन्धुवर्गं विमोचितो गुरुकलत्रपुत्रैः ।
आसाद्य ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारम् ॥ २ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ —(बन्धुवग्गं) बन्धुओंके समूहको (आपिच्छ) पूछकर (गुरुकलत्तपुत्तेहिं) माता पिता स्त्री पुत्रोंसे (विमोइदो) छूटता हुआ (णाणदंसणचरित्ततववीरियायारम्) ज्ञान दर्शन, चारित्र, तप वीर्य ऐसे पांच आचारको (आसिज्ज) आश्रय करके मुनि होता है ।

विशेषार्थ —यह साधु नीचेका इसतरह इस तरह बंधुवर्गोंको समझाकर क्षमाभाव करता व कराता है कि अहो बन्धुजनो, मेरे पिता माता स्त्री पुत्रो ! मेरी आत्मामें परम भेद ज्ञानरूपी ज्योति उत्पन्न होगई है इससे यह मेरी आत्मा अपने ही चिदानन्दमई एक स्वभावरूप परमात्माको ही निश्चयनयसे अनादि कालके बन्धु वर्ग, पिता, माता, स्त्री, पुत्ररूप मानकर उन्हीका आश्रय करता है इसलिये आप सब मुझे छोड़ दो—मेरा मोह त्याग दो व मेरे दोषोंपर

क्षमा करो इस तरह क्षमाभाव कराता है। उसके पीछे निश्चय पचाचारको और उसके साधक आचारादि चारित्र ग्रंथोंमें कहे हुए व्यवहार पच प्रकार चारित्रको आश्रय करता है।

परम चैतन्य मात्र निज आत्मतत्व ही सब तरहसे ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचि सो निश्चय सम्यग्दर्शन है, ऐसा ही ज्ञान सो निश्चयसे सम्यग्ज्ञान है, उसी निज स्वभावमें निश्चलतासे अनुभव करना सो निश्चय सम्यक्चारित्र है, सर्व परद्रव्योंकी इच्छासे रहित होना सो निश्चय तपश्चरण है तथा अपनी आत्मशक्तिको न छिपाना सो निश्चय वीर्याचार है इस तरह निश्चय पचाचारका स्वरूप जानना चाहिये।

यहा जो यह व्याख्यान किया गया कि अपने बन्धु आदिके साथ क्षमा करावे सो यह कथन अति प्रसङ्ग अर्थात् अमर्यादाके निषेधके लिये है। दीक्षा लेते हुए इस बातका नियम नहीं है कि क्षमा कराए विना दीक्षा न लेवे। क्यों नियम नहीं है? उसके लिये कहते हैं कि पहले कालमें भरत, सगर, राम, पाडवादि बहुतसे राजाओंने जिनदीक्षा धारण की थी। उनके परिवारके मध्यमें जब कोई भी मिथ्यादृष्टि होता था तब धर्ममें उपसर्ग भी करता था तथा यदि कोई ऐसा माने कि बन्धुजनोंकी सम्मति करके पीछे तप करूंगा तो उसके मतमें अधिकतर तपश्चरण ही न होसकेगा, क्योंकि जब किसी तरहसे तप ग्रहण करते हुए यदि अपने सबधी आदिसे ममताभाव करे तब कोई तपस्वी ही नहीं होसक्ता। जैसा कि कहा है—" जो सकलणयररज्ज पुव्व चइऊण कुणइ य ममत्ति। सो णवरि लिंगधारी सजमसारेण णिस्सारो ॥ "

भावार्थ—जो पहले सर्व नगर व राज्य छोड़ करके फिर ममता करे वह मात्र भेषधारी है भावमरी अपेक्षामें भाव रहित है अर्थात् सयमी नहीं है ।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने दीक्षा लेनेवाले सम्यग्दृष्टी भव्य जीवके लिये एक मर्यादारूप यह बतलाया है कि उस समय वह स्वय सर्व कुटुम्बादिके ममत्वसे रहित होजावे । उसके चित्तमें ऐसी कोई आकुलता न पैदा होनी चाहिये जिससे वह दीक्षा लेनेके पीछे उनकी चिंतामें पड जावे । इसलिये उचित है कि वह राज्य पाट, धनधान्य आदिका उचित प्रबध करके उनका भार जिसको देना हो उसको दवे । किसीका कर्ज हो उसे भी दे देवे । अपनेसे किसीके साथ अत्याचार या अन्याय हुआ हो तो उसकी क्षमा करावे व किसीकी कोई वस्तु अन्यायसे ली हो तो उसको उसकी दे देवे । यदि कोई दान धर्मके कार्योंमें धनका उपयोग करना हो तो कर देवे तथा सर्व कुटुम्बसे अपनी ममता छुडानेको व उनकी ममता अपनेसे व इस ससारसे छुडानेको उनको धर्मरस गर्भित उपदेश देकर शात करे ।

उनको कहे कि आप सब जानते हैं कि आपका सम्बन्ध मेरे इस शरीरसे है जो एक दिन छूट जानेवाला है किन्तु मेरी आत्मासे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है । आत्मा अजर अमर अविनाशी है । आत्मा चैतन्य स्वरूप है । उसका निज सम्बन्ध अपने चैतन्यमई ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यादि गुणोंसे है । जब इस मेरी आत्माका सम्बन्ध दूसरे आत्मासे व उसके गुणोंसे नहीं है तब इसका सम्बन्ध इस शरीरसे व शरीरके सम्बन्धी आप सब बधु

जनोमे कैसे होसक्ता है? जब इस प्राणीका जीव शरीरसे अलग होजाता है तब सब बन्धुजन उस जीवको नहीं पकड सक्ते जो शरीरको छोडते ही एक, दो, तीन समयके पीछे ही अन्य शरीरमें पहुच जाता है किन्तु वे विचारे उस शरीरको ही निर्जीव जानकर बड़े आदरसे शरीरको दग्धकर सतोष मान लेते है। उस समय सब बन्धुजनोंको लाचार हो सतोष करना ही पडता है। एक दिन मेरे शरीरके लिये भी वही समय आनेवाला है। मै इस शरीरसे तपस्या करके व रत्नत्रयका साधन करके उसी तरह मुक्तिका उपाय करना चाहता हू जिस तरह प्राचीनकालमें श्री रिषभादि तीर्थकरोंने व श्रीबाहुबलि भरत, सगर, राम पाडवादिकोंने किया था। इसलिये मुझे आत्म कार्यके लिये सन्मुख जानकर आपको कोई विषाद न करना चाहिये किन्तु हर्ष मानना चाहिये कि यह शरीर एक उत्तम कार्यके लिये तय्यार हुआ है। आपको मोहभाव दिलसे निकाल देना चाहिये क्योंकि मोह ससारका बीज है। मोह कर्म बन्ध करनेवाला है। वास्तवमें मै तो आत्मा हू उससे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। हा जिस शरीर रूपी कुटीमे मेरा आत्मा रहता है उससे आपका सम्बन्ध है—आपने उसके पोषणमें मदद दी है सो यह शरीर जड पुद्गल परमाणुओंसे बना है, उससे मोह करना मूर्खता है। यह शरीर तो सदा बनता व बिगड़ता रहता है। मेरे आत्मासे यदि आपको प्रेम है तो जिसमें मेरे आत्माका हित हो उस कार्यमें मेरेको उत्साहित करना चाहिये। मै मुक्तिसुन्दरीके वरनेको मुनिदीक्षाके अश्वपर आरूढ हो ज्ञान सयम तपादि वरातियोंको साथ लेकर जानेवाला हू। इस समय आप सबको इस मेरी आत्माके यथार्थ विवाहके समय मगलाचरणरूप

जिनेन्द्र गुणगान करके मुझे बधाई देनी चाहिये तथा मेरी महा यात्रा करनेको व मेरेसे हित मिलनेको आपको ॥ इस नाशवंत अनुतिकारी संसारके मायाजालसे अपने इस उत्तम नर भवमें ऊंचा मुक्तिके अनुपम अतीन्द्रिय आनन्दके लेनेके लिये मेरे साथ मुनिव्रत व आर्यिकाके व्रत व गृहत्यागी श्रावकके व्रत धारण करनेका भाव पैदा करना चाहिये।

प्रिय माता पिता! आप मेरे इस आत्माके माता पिता नहीं हैं क्योंकि यह अजन्मा और अनादि है, आप मात्र इस शरीरके जन्मदाता हैं जो जड़ पुद्गलमई है। आपका रचा हुआ शरीर मेरे मुक्तिके साधनमें उद्यमी होनेपर विषयकषायके कार्योंसे छूटते हुए एक हीन कार्यसे मुनिव्रत पालनसे भलाई होनेरूप उत्कृष्ट कार्यमें काम आरहा है उसके लिये आपको कोई शोक न करके मात्र हर्षभाव बताना चाहिये।

प्रिय कान्ते! तू मेरे इस शरीररूपी झोपड़ेको खिलानेवाली व इससे नेह करके मुझे भी अपने शरीरसे नेह करानेवाली है। तेरा मेरा भी सम्बन्ध इस शरीरके ही कारण है—मैं आत्माने कभी किसीसे विवाह किया नहीं उसका स्त्री तो स्वानुभूति है जो सदा उसके अंगमें परम प्रेमालु होव्यापक रहती है। तू मेरे शरीरकी स्त्री है। तुझे इस शरीर द्वारा उत्तम कार्यके होते हुए कोई शोक न करके हर्ष मानना चाहिये तथा स्वयं भी अपने इस क्षणभंगुर जड़ शरीरसे आत्महित करलेना चाहिये। संसारमें जो विषयभोगोंके दास हैं वे ही मूर्ख हैं। जो आत्मकार्यके कर्ता हैं वे ही बुद्धिमान हैं।

हे प्रिय पुत्र पुत्रियो! तुम भी मुझसे ममताकी डोर तोड़दो।

तुम्हारे आत्माका मैं जन्मदाता नहीं—जिस शरीरके निर्माणमें मेरेसे सहायता हुई है वह शरीर जड है। यदि तुमको मेरे उपकारको स्मरणकर 'जो मैंने तुम्हारे शरीरके लालनपालनमे किया है' मेरा भी कुछ प्रत्युपकार करना है तो तुम यही कर सक्ते हो कि इस मेरे आत्मकार्यमें तुम हर्षित हो मेरेको उत्साहित करो तथा मेरी इस शिक्षाको सदा स्मरण कर उसके अनुसार चलो कि धर्म ही इस जीवका सच्चा मित्र, माता, पिता, बन्धु है। धर्मके साधनमें किसी भी व्यक्तिको प्रमाद न करना चाहिये। विषयकषायका मोह नर्क निगोदादिको लेजानेवाला है व धर्मका प्रेम स्वर्ग मोक्षका साधक है।

प्रिय कुटुम्बीजनो! तुम सबका नाता मेरे इस शरीरसे है। मेरे आत्मासे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये इस क्षणभगुर शरीरको तपस्यामें लगते हुए तुम्हें कोई शोक न करके बडा हर्ष मानना चाहिये और यह भावना भानी चाहिये कि तुम भी अपने इस देहसे तप करके निर्वाणका साधन करो।

इस तरह सर्वको समझाकर उन सबका मन शांत करे। यदि वे समझाए जानेपर भी ममत्व बढानेकी बातें करें, संसारमें उलझे रहनेकी चर्चा करें तो उनपर कोई ध्यान न देकर साधु पदवी धारनेके इच्छुक हो स्वय ममताकी डोर तोडकर गृह त्यागकर चले जाना चाहिये। 'कि जबतक ममता न छोडे, मैं कैसे गृहवास तजू' इस मोहके विकल्पको कभी न करना चाहिये।

यह कुटुम्बको समझानेकी प्रथा एक मर्यादा मात्र है। इस बातका नियम नहीं है कि कुटुम्बको समझाए बिना दीक्षा ही न लेवे। बहुतसे ... अवसर आजाते हैं कि जहां कुटुम्ब

निकट नहीं होता है और दीक्षाके इच्छकके मनमें वैराग्य आजाता है वह उसी समय गुरुसे दीक्षा ले लेता है। यदि कुटुम्ब निकट हो तो उसके परिणामोंको शातिदायक उपदेश देना उचित है। यदि निकट नहीं है तो उसके समझानेके लिये कुटुम्बके पास आना फिर दीक्षा लेना ऐसी कोई आवश्यक्ता नहीं है। यह भी नियम नहीं है कि अपने कुटुम्बी अपने ऊपर क्षमाभाव करदें तब ही दीक्षा लेवे। आप अपनेसे सबपर क्षमा भाव करे। गृहस्थ कुटुम्बी वैर न छोडें तो आप दीक्षासे रुके नहीं। अन्यथा शत्रु कुटुम्बियोंने मुनियोंपर उपसर्ग किये हैं।

दीक्षा लेनेवालेको अपना मन रागद्वेष शून्य करके समता और शांतिसे पूर्णकर लेना चाहिये फिर वह निश्चय रत्नत्रय रूप स्वानुभवमें होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्दके लिये व्यवहार पचाचारको धारण करे अर्थात् छ द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, साततत्त्व, नो पदार्थकी यथार्थ श्रद्धा रक्खे, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग इन चार प्रकार ज्ञानके साधनोंका आराधक होवे, पाच महाव्रत, पाच समिति तीन गुप्तिरूप चारित्रपर आरूढ होवे, अनशनादि बारह प्रकार तपमें उद्यमी होवे तथा आत्मवीर्यको न छिपाकर बडे उत्साहसे मुनिके योग्य क्रियाओंका पालक होवे—अनादि कालीन कर्मके पिंजरेको तोडकर किस दिन शीघ्र मैं स्वाधीन हो जाऊं और निरन्तर स्वात्मीकरसका पान करूं इस भावनामें तल्लीन हो जावे। जैसा मूलाचार अनगार भावनामें कहा है—

णिम्मालियसुमिणाविय धणकणयसमिद्धबंधवजणं च।
पयहंति वीरपुरिसा विरत्तकामा गिहावासे ॥ ७७४ ॥

भावार्थ–वीर पुरुष गृहवासमें विरक्त होकर 'जैसे भोगे हुए फूलोंको नीरस समझकर छोडा जाता है' इस तरह धन सुवर्णादि सहित बन्धुजनोंका त्याग कर देते हैं ॥ २ ॥

उत्थानिका–आगे जिन दीक्षाको लेनेवाला भव्य जीव जैनाचार्यका शरण ग्रहण करता है ऐसा कहते हैं —

समण गणि गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं ।
समणेहि तंपि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥३॥

श्रमणं गणिनं गुणाढ्यं कुलरूपवयोविशिष्टमिष्टतरम् ।
श्रमणैस्तमपि प्रणतः प्रतीच्छ मां चेत्यनुगृहीतः ॥ ३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(समण) समताभावमें लीन, (गुणड्ढं) गुणोंमे परिपूर्ण, (कुलरूववयोविसिट्ठम्) कुल, रूप तथा अवस्थामें उत्कृष्ट, (समणेहिं इट्ठतर) महामुनियोंसे अत्यन्त मान्य (तं गणिं) ऐसे उस आचार्यके पास प्राप्त होकर (पणदो) उनको नमस्कार करता हुआ (च अपि) और निश्चय करके (मं पडिच्छ) मेरेको अंगीकार कीजिये (इदि) ऐसी प्रार्थना करता हुआ (अणुगहिदो) आचार्य द्वारा अंगीकार किया जाता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ·-जिनदीक्षाका अर्थी जिस आचार्यके पास जाकर दीक्षाकी प्रार्थना करता है उसका स्वरूप बताते हैं कि वह निन्दा व प्रशंसा आदिमें समताभावको रखके पूर्व सूत्रमें कहे गए निश्चय और व्यवहार पंच प्रकार आचारके पालनेमें प्रवीण हो, चौरासीलाख गुण और अठारह हजार शीलके सहकारी कारणरूप जो अपने शुद्धात्माका ... ऐसे गुण उसमें परिपूर्ण हो। लोगो

गुणोंसे विभूषित हों। व्यवहार चारित्रके गुणोंके साथ २ निज आत्मीक रत्नत्रयके मननरूपी मुख्यगुणसे विभूषित हों। श्री वट्टकेर आचार्य प्रणीत श्री मूलाचार ग्रन्थमें आचार्योंकी प्रशंसामें इस प्रकार कहा है—

पंचमहव्वयधारी पंचसु समिदीसु संजदा धीरा ।
पंचिंदियत्थविरदा पंचमगइ मग्गया समणा ॥ ८७१ ॥

भावार्थ—जो पांच महाव्रतोंके धारी हों, पांच समितियोंमें लीन हों, निष्कम्पभाव वाले हों, पांचों इंद्रियोंके विजयी हों तथा पंचम-सिद्ध गतिके खोजी हों वे ही श्रमण होते हैं।

अणुबद्धतवोकम्मा खवणवसगदा तवेण तणुअंगा ।
धीरा गुणगंभीरा अभग्गजोगाय दिढचरित्ताय ॥८८२॥

भावार्थ—जो निरन्तर तपके साधन करनेवाले हों, क्षमा गुणके धारी हों, तपसे शरीर जिनका कृश होगया हो, धीर हों व गुणोंमें गंभीर हों, अखंड ध्यानी हों तथा दृढ चारित्रके पालने वाले हों।

वसुधम्मिवि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाइ ।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु ॥७९८॥ (मू० आ०)

भावार्थ—पृथ्वीमें विहार करते हुए जो कभी किसी प्राणीको कष्ट नहीं देते हों। तथा सर्व जीवोंकी रक्षामें ऐसे दयालु हैं जैसे माता अपने पुत्र पुत्रियोंकी रक्षामें दयालु होती है।

णिक्खित्तसत्थदंडा समणा सम सव्वपाणभूदेसु ।
अप्पट्ठं चिंतंता हवंति अव्वावडा साहू ॥८०३॥ (मू० आ०)

भावार्थ—जो शस्त्र व दंड आदि हिंसाके उपकरणोंसे रहित

हों, सर्व प्राणी मात्रमें समताभावके धारी हो, निज आत्माके स्वभावके चिन्तवन करनेवाले हों तथा गार्हस्थ्य सम्बन्धी व्यापारसे मुक्त हों वे ही श्रमण साधु होते हैं।

तीसरा विशेषण यह है कि वे कुल रूप तथा वयमें श्रेष्ठ हो। जिसका भाव यह है कि उनका कुल निष्कलंक हो अर्थात् जिस कुलमें कुत्सित आचरणसे लोक निंदा होरही हो उस कुलका धारी आचार्य न हो क्योंकि उसका प्रभाव अन्य साधुओंपर नहीं पड़ सक्ता है तथा रूप उनका परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ, शांत व भव्य जीवोंके मनको आकर्षण करनेवाला हो और आयु ऐसी हो जिससे दर्शकोंको यह प्रगट हो कि यह आचार्य बड़े अनुभवी हैं व बड़े सावधान तथा गुणी और गंभीर हैं—अति अल्प आयु व वृद्ध आयु व उद्धतता सहित युवा आयु आचार्यपदकी शोभाको नहीं देसक्ती है। वास्तवमें आचार्यका कुल, रूप तथा अवस्था अन्य साधुओंके मनमें उनके शरीरके दर्शन मात्रसे प्रभावको उत्पन्न करनेवाले हों।

चौथा विशेषण यह है कि वे आचार्य अन्य आचार्य तथा साधुओंके द्वारा माननीय हों। अर्थात आचार्य ऐसे गुणी, तपस्वी, आत्मानुभवी तथा शातस्वभावी हो कि सर्व ही अन्य आचार्य व साधु उनके गुणोंकी प्रशंसाकर्त्ता व स्तुतिकर्त्ता हों।

ऐसे चार विशेषण सहित आचार्यके पास जाकर वैराग्यवान दीक्षाके उत्सुक भव्यजीवको उचित है कि नमस्कार, पूजा व भक्तिके करके अत्यन्त विनयसे हाथ जोड यह प्रार्थना करे कि महाराज, मुझे यह जिनेश्वरी दीक्षा प्रदान कीजिये जिसके प्रतापसे अनेक तीर्थंकरादि [illegible] शिवसुन्दरीको वरा है व जिसपर

हो आप स्वयं जहाजके समान तरण तारण होकर रागद्वेष मई संसारसमुद्रसे पार होकर परमानन्दमई आत्मस्वभावकी प्रगटता रूप मोक्ष नगरकी ओर जाते हो ।

मेरे मनमें इस असार संसारसे इस अशुचि शरीरसे व इन अतृप्तिकारी व पराधीन पचेंद्रियके भोगोंसे उदासीनता होरही है। मेरे मनने सम्यग्दर्शनरूपी रसायनका पानकर निज आत्मानुभव रूपी अमृतका स्वाद पाया है अत उसके सन्मुख सांसारिक विषय सुख मुझे विषतुल्य भास रहा है। मैं अब आठ कर्मोंके बन्धनसे मुक्त होना चाहता हू जिनके कारण इस प्राणीको पुन पुन शरीर धारण कर व पचेंद्रियोंकी इच्छाके दासत्वमें पडकर अपना समय विषयसुखके पदार्थोंके संग्रहमें व्ययकर भी अतमें इच्छाओंको न पूर्ण करके हताश हो पर्याय छोडना पडता है। मैं अब उन कर्म शत्रुओंका सर्वथा नाश करना चाहता हू जिन्होंने मेरे अनतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूपी धनको मुझसे छिपा रक्खा और मुझे हीन, दीन, दुर्बल तथा ज्ञान व सुखका दलिद्री बनाकर चार गतियोंमें भ्रमण कराकर महान् वचनातीत कष्टोंमें पटका है।

हे परम पावन, परम हितकारी वैद्यवर! संसार रोगको सर्वथा निर्मूल करनेको समर्थ ऐसी परम सामायिकरूपी औषधि और उसके पाने योग्य मुनि दीक्षाका चारित्र मुझे अनुग्रह कर प्रदान कीजिये।

इस प्रार्थनाको सुनकर प्रवीण आचार्य उस प्रार्थीके मन वचन कायके वर्तनसे ही समझ जाते हैं कि इसमें मुनि पदके साधन करनेकी योग्यता है और यदि कुछ शका होती है तो प्रश्नोत्तर करके व अन्य गृहस्थोंसे परामर्श करके निर्णय कर लेने

है। जब आचार्यको उसके सम्बन्धमें पूर्ण निश्चय हो जाता है तब वे दयावान हो उसको स्वीकार करते हुए यह वचन कहते हैं–

हे भव्य! तुमने बहुत अच्छा विचार किया है। जिस मुनिव्रत लेनेकी आकांक्षासे इन्द्रादि देव अपने मनमें यह भावना करते हैं कि कब यह मेरी देवगति समाप्त हो व कब मैं उत्तम मनुष्य जन्म पाऊं और संयमको धारूं, उसी मुनिव्रतके धारनेको तुम तय्यार हुए हो। तुमने इस नरजन्मको सफल करनेका विचार किया है। वास्तवमें उच्च तथा निर्विकल्प आत्मध्यानके विना कर्मके पुद्गल 'जिनकी स्थिति कोडाकोडि सागरके अनुमान होती है' अपनी स्थिति घटाकर आत्मासे दूर नहीं होसक्ते हैं। जिस उच्च धर्म-ध्यान तथा शुक्लध्यानसे आत्मा शुद्ध होता है उसके अवसरमें लाभ विना बाहरी मुनि पदके योग्य आचरणरूपी सामग्रीका सम्बन्ध मिलाए नहीं होसक्ता है अतएव तुमने जो परिग्रह त्याग निर्ग्रंथ होनेका भाव अपने मनमें जागृत किया है, वह भाव अवश्य तुम्हारी मंगलकामनाको पूर्ण करनेवाला है।

जब तुम इस शरीरके सर्व कुटुम्बके ममत्वको त्यागकर निज आत्माके ज्ञान, दर्शन सुख, वीर्य आदि रूप अमिट कुटुम्बियोंके प्रेमी हुए हो, इससे तुम्हें अवश्य वह मुक्तिकी अखंड लक्ष्मी प्राप्त होगी जो निरंतर सुख व शांति देती हुई आत्माको परम कृतकृत्य तथा परम पावन और परमानंदित रखती है। इस तरह आत्मरस-गर्भित उपदेश देकर आचार्य अनुग्रहकर इस शिष्यको स्वीकार करते हैं ॥ ३ ॥

उत्थानिका–आगे गुरु द्वारा स्वीकार किये जानेपर वह

जिस प्रकार स्वरूपका धारी होता है उसका उपदेश करते हैं—

णाह होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥ ४ ॥

नाहं भवामि परेषां न मे परे नास्ति ममेह किंचित्।
इति निश्चितो जितेन्द्रिय यातो यथाजातरूपधरः ॥ ४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(अहं) मैं (परेसिं) दूसरोंका (ण होमि) नहीं हूं (ण मे परे) न दूसरे द्रव्य मेरे हैं। इस तरह (इह) इस लोकमें (किंचि) कोई भी पदार्थ (मज्झम) मेरा (णत्थि) नहीं है। (इदि णिच्छिदो) ऐसा निश्चय करता हुआ (जिदिंदो) जितेंद्रिय (जधजादरूवधरो) और जैसा मुनिका स्वरूप होना चाहिए वैसा अर्थात् नग्न या निर्ग्रन्थ रूप धारी (जादो) होजाता है।

विशेषार्थ-दीक्षा लेनेवाला साधु अपने मन वचन कायसे सर्व परिग्रहसे ममता त्याग देता है। इसीलिये वह मनमें ऐसा निश्चय कर लेता है कि मैं अपने शुद्ध आत्माके सिवाय और जितने पर द्रव्य हैं उनका सम्बन्धी मैं नहीं हूं और न पर द्रव्य मेरे कोई सम्बन्धी हैं। इस जगतमें मेरे सिवाय मेरा कोई भी परद्रव्य नहीं है तथा वह अपनी पांच इंद्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले विकल्पजालोंसे रहित व अनन्त ज्ञान आदि गुण स्वरूप अपने परमात्म द्रव्यसे विपरीत इंद्रिय और नोइंद्रियको जीत लेनेसे जितेन्द्रिय होजाता है। और यथाजात रूपधारी होजाता है अर्थात् व्यवहारनयसे नग्नपना यथाजातरूप है और निश्चयसे अपने आत्माका जो यथार्थ स्वरूप है वह यथाजात रूप है। साधु इन दोनोंको धारण करके निर्ग्रन्थ हो जाता है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने भावलिंग और द्रव्यलिंग दोनोंका सकेत किया है और साधुपद धारनेवालेके लिये तीन विशेषण बताए हैं। अर्थात् निर्ममत्व हो, जितेन्द्रिय और यथाजात रूपधारी हो।

निर्ममत्व विशेषणसे यह झलकाया है कि उसका किसी प्रकारका ममत्व किसी भी परद्रव्यमें न रहना चाहिये। स्त्री, पुत्र, माता, पिता, मित्र, कुटुम्बी, पशु आदि चेतन पदार्थ, ग्राम, नगर, देश राज्य, घर, वस्त्र, आभूषण, वर्तन, शरीर आदि अचेतन पदार्थ इन सबसे जिसका बिलकुल ममत्व न रहा हो। न जिसका ममत्व आठ कर्मोंसे बने हुए कार्मण शरीरसे हो, न तैजस वर्गणासे निर्मित तैजस शरीरसे हो, न उन रागद्वेषादि नैमित्तिक भावोंसे हो जो मोहनीय कर्मके उदयके निमित्तसे आत्माके अशुद्ध उपयोगमें झल-कते हैं, न शुभोपयोग रूप दान पूजा, जप, तप आदिसे जिसका मोह हो—उसने ऐसा निश्चय कर लिया हो कि शुभभाव बन्धके कारण हैं इससे त्यागने योग्य हैं। वह ऐसा निर्मोही हो जावे कि अपने शुद्ध निर्विकार ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणधारी आत्म-स्वभावके सिवाय किसी भी परद्रव्यको अपना नहीं जाने, यहांतक कि अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन पांचों परमे-ष्ठियोंमें और अन्य आत्माओंसे भी मोह नहीं रक्खे। स्याद्वाद नयका ज्ञाता होकर यह ज्ञानी साधु ऐसा समझे कि अपना शुद्ध अखंड आत्म-द्रव्य अपने ही शुद्ध असंख्यात प्रदेशरूप क्षेत्र, अपने ही शुद्ध समयरूप पर्याय तथा अपने ही शुद्ध गुण तथा गुणांश ऐसे स्वद्रव्य क्षेत्रकाल भावकी अपेक्षा मेरा अस्तित्व मेरे ही में है।

मेरे इस आतमद्रव्यमें परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल तथा परभावोंका नास्तित्व है । मैं अस्तिनास्ति स्वरूप होकर ही सबसे निराली अपनी शुद्ध सत्ताका धारी एक आतमद्रव्य हूं । ऐसा निर्ममत्व भाव जिसके मन वचन तनमें पूर्ण रूपसे भर जाता है वही साधु है । श्री समयसारजीमें साधुके निर्ममत्वभावमें श्री कुन्दकुन्द-आचार्यने इस तरह कहा है—

अहमिक्को खलु सुद्धो, दसणणाणमइओ सया रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्ण परमाणुमित्त पि ॥४३॥

भावार्थ—मैं प्रगटपने एक अकेला हूं, शुद्ध हूं, दर्शनज्ञान स्वभाववाला हूं और सदा अरूपी या अमूर्तीक हूं । मेरे सिवाय अन्य परमाणु मात्र भी कोई वस्तु मेरी नहीं है ।

श्री मूलाचारमें कहा है कि साधु इस तरह ममतारहित होजावे।

ममत्ति परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइ वोसरे ॥ ४५ ॥
आदा हु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोए ॥ ४६ ॥

भावार्थ—मैं ममताको त्यागता हूं और निर्ममत्व भावमें प्राप्त होता हूं । मेरा आलम्बन एक मेरा आत्मा ही है । मैं और सबको त्यागता हूं । निश्चयसे मेरे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर तथा योगमें एक आत्मा ही है अर्थात् मैं आत्मस्थ होता हूं वहीं ये ज्ञान दर्शनादि सभी गुण प्राप्त होते हैं ।

श्री अमितिगति आचार्यने बृहत् सामायिकपाठमें कहा है—

शिष्टे दुष्टे सदसि विपिने काचने लोष्ठवर्गे।
सौख्ये दुःखे शुनि नरवरे संगमे यो वियोगे ॥
शश्वद्धीरो भवति सदृशो द्वेषरागव्यपोढ ।
प्रौढा स्त्रीव प्रथितमहसस्तस्य सिद्धि करस्था ॥३५॥

भावार्थ–जो सज्जन व दुर्जनमे, सभा व वनमें, सुवर्ण व कंकड पत्थरमे, सुख व दुःखमें, कुत्ते व श्रेष्ठ मनुष्यमे, सयोग व वियोगमे सदा समान बुद्धिधारी, धीरवीर, रागद्वेषसे शून्य वीतरागी रहता है उसी तेजस्वी पुरुषके हाथको मुक्तिरूपी स्त्री नवीन स्त्रीके समान ग्रहण कर लेती है।

दूसरा विशेषण जितेन्द्रियपना है। साधुको अपनी पाचो इन्द्रियो और मनके ऊपर ऐसा स्वामीपना रखना चाहिये जिस तरह एक घुडसवार अपने घोडेपर स्वामित्व रखता है। वह कभी भी इन्द्रिय व मनकी इच्छाओंके आधीन नही होता है क्योकि सम्यग्दर्शनके प्रभावसे उसकी रुचि इन्द्रियसुखसे दूर होकर आत्मजन्य अतीन्द्रिय आनन्दकी ओर तन्मय होगई है। इन्द्रियसुख अतृप्तकारी तथा ससारमें जीवोंको लुब्ध रखकर क्लेशित करनेवाला है जब कि अतीन्द्रिय सुख आत्माको संतोषित करके मुक्तिके मनोहर सदनमें ले जानेवाला है। ऐसा विश्वासधारी ज्ञानी भाव स्वभावसे ही जितेन्द्रिय होजाता है। वह इन्द्रिय विजयी साधु अपनी इन्द्रियोसे व मनसे आत्मानुभवमें सहकारी स्वाध्याय आदि कार्यों लेता है–वह उनकी इच्छाओंके अनुकूल विषयोंके वनोंमें दौड़कर आकुलित नहीं होता है। श्री मूलाचारजीमे कहा है––

जो रसेन्दिय फासे य कामे वज्जदि णिच्चसा ।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ॥ २६ ॥

जो रूवगंधसद्दे य भोगे वज्जेदि णिच्चसा ।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ॥ ३० ॥
(पद्मावश्यक)

भावार्थ—जो साधु रसना व स्पर्श सम्बन्धी कामसेवनकी इच्छाको मनसे दूर रखता है उसीके साम्यभाव होता है ऐसा केवली भगवानके शासनमें कहा है । जो नाना प्रकार रूप, गंध, व शब्दोंकी इच्छाओंका निरोध करता है उसीके सामायिक होती है ऐसा केवली महाराजके शासनमें कहा है ।

इन्द्रियोंके भोगोंमें विजय प्राप्त करनेके लिये साधु इस तरह भावना करता है जैसा श्री कुलभद्रआचार्यने सारसमुच्चयमें कहा है—

कृमिजालशताकीर्णे दुर्गन्धमलपूरिते ।
विण्मूत्रसंभृते स्त्रीणां का काये रमणीयता ॥ १२४ ॥
अहो ते सुखिता प्राप्ता ये कामानलवर्जिता ।
सद्वृत्तं विधिना पाल्य यास्यन्ति पदमुत्तमं ॥ १२५ ॥
षट्खंडाधिपतिश्चक्री परित्यज्य वसुन्धराम् ।
तृणवत् सर्वभोगांश्च दीक्षां दैगम्बरीं स्थितः ॥ १३६ ॥
आत्माधीनं तु यत्सौख्यं तत्सौख्यं वर्णितं बुधैः ।
पराधीनं तु यत्सौख्यं दुःखमेव न तत्सुखं ॥ ३०१ ॥

भावार्थ—जो स्त्रियोंका शरीर सैकड़ो कीड़ोंसे भरा है, दुर्गंध मलसे पूर्ण है तथा विष्टा और मूत्रका स्थान है उसमें रमनेयोग्य क्या रमनीकता है? अहो वे ही सुखी रहते हैं जो कामकी अग्निको शांत किये हुए विधिपूर्वक उत्तम चारित्रको पालकर उत्तम पदमें पहुंच जाते हैं। छः खण्ड पृथ्वीके स्वामी चक्रवर्ती भी इस पृथ्वीको व सर्व भोगोंको तृणके समान जान छोड़कर दिगम्बरी दीक्षाको धारण कर चुके हैं । वास्तवमें जो आत्माके आधीन अतीन्द्रिय

आनन्द है उसको बुद्धिमानोंने सुख कहा है—जो इंद्रियाधीन पराधीन सुख है यह दुःख ही है सुख नहीं है।

स्वामी समन्तभद्रने स्वयम्भूस्तोत्रमें इंद्रियसुखको इस तरह हेय बताया है—

स्वास्थ्य यदात्यन्तिकमेष पुंसा स्वार्थो न भोग परिभंगुरात्मा।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्व ॥३०॥

भावार्थ—श्री सुपार्श्वनाथ भगवानने कहा है कि जीवोंका सच्चा स्वार्थ अपने आत्मामें स्थित होना है, क्षणभंगुर भोगोंका भोगना नहीं है क्योंकि इंद्रियोंका भोग करनेसे तृष्णाकी वृद्धि हो जाती है तथा विषयभोगसे ताप कभी शांत नहीं होसक्ती।

इस तरह सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे वस्तुस्वरूपको विचारते हुए साधु महात्माको जितेंद्रियपना प्राप्त होता है।

तीसरा विशेषण यथाजातरूपधारी है। इससे यह प्रयोजन है कि साधुका आत्मा पूर्ण शांत होकर अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें रमण करता हुआ उसके साथ एकरूप—तन्मय हो जाता है। साधु वारवार छठे सातवें गुणस्थानमें आता जाता है। छठेमें यद्यपि कुछ ध्याता, ध्येय व ध्यानका भेद बुद्धिमें झलकता है तथापि सातवें गुणस्थानमें आत्मामें ऐसी एकाग्रता रहती है कि ध्याता ध्यान ध्येयके विकल्प भी मिट जाते हैं। जिस स्वभावमें स्वानुभवके समय द्वैतताका अभाव हो जाता है—मात्र अद्वैत रूप आप ही अकेला अनुभवमें आता है, वहां ही यथाजातरूपपना भाव लिंग है। इसी भावमें ही निश्चय मोक्षमार्ग है। यहीं रत्नत्रयकी एकता

है। इसीमें ही साधुको परमानन्दका स्वाद आता है। इसी भावसे ही पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है।

श्री समयसार कलशमें श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं —

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥१०-७।

भावार्थ—यह आत्मा सर्व विश्वसे विभिन्न है तो भी जिस मोहके प्रभावसे यह मूढ़ होकर विश्वको अपना कर लेता है। वह मोहकी जड़से उत्पन्न हुआ मोह भाव जिनके नहीं होता है वे ही वास्तवमें साधु हैं। इस अद्वैत स्वानुभवरूप भाव साधुपनेकी भावना निरन्तर करना साधुका कर्तव्य है। इसी भावनाके बलसे वह पुन पुन स्वानुभवका लाभ पाया करता है। समयसारकलशमें उसी भावनाके भावको इस तरह बताया है —

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे—
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावै—
नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥ २३/११ ॥

भावार्थ जब मेरेमें शुद्ध आत्मस्वभावकी महिमा प्रगट हो गई है, जहां स्याद्वादसे प्रकाशित शोभायमान तेज झलक रहा है तब मेरेसे बंध मार्ग तथा मोक्षमार्गमें ले जानेवाले अन्य भावोंसे क्या प्रयोजन—मेरेमें तो वही शुद्धस्वभाव नित्य उदयरूप प्रकाशमान रहो।

स्वात्मानन्दका भोग उपयोगमें होना ही निश्चयसे साधुपना है। विना इसके मोक्षका साधन हो नहीं सक्ता।

श्री देवसेन आचार्य श्री तत्त्वसारमें कहते हैं —

झाणट्ठिओ हु जोई जइ णो सम्वेय णिययअप्पाण ।
तो ण लहइ त सुद्धं भग्गविहीणो जहा रयण ॥४६॥

भावार्थ-जो योगी ध्यानमें स्थित होकर भी यदि निज आत्माका अनुभव नहीं करता है तो वह शुद्ध आत्मस्वभावको नहीं पाता है। जैसे भाग्यरहितको रत्न मिलना कठिन है।

श्री नागसेन मुनिने तत्त्वानुशासनमें भावमुनिके स्वरूपको इसतरह दिखलाया है —

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नानुभूयते ।
तदा न तस्य तद्ध्यान मूर्छावान् मोह एव स ॥ १६६ ॥
आत्मानमन्यसपृक्तं पश्यन् द्वैत प्रपश्यति ।
पश्यन् विभक्तमन्येभ्य पश्यत्यात्मानमद्वय ॥ १७७ ॥
पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यार्जितान्मलान् ।
निरस्ताहं ममीभाव स वृणोत्यप्यनागतान् ॥ १७८ ॥

भावार्थ—समाधिमें स्थित योगी द्वारा यदि ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव नहीं किया जाता है तो उसके आत्मध्यान नहीं है। वह केवल मूर्छावान है अर्थात् मोह स्वरूप ही है। आत्माको अन्यसे सयुक्त देखता हुआ योगी द्वैतभावका विचार करता है, परन्तु उसीको अन्योंसे भिन्न अनुभव करता हुआ एक अद्वैत शुद्ध आत्माहीको देखता है।

आत्माको एकाग्रभावसे अनुभव करता हुआ योगी पूर्व बद्ध कर्ममलोंका क्षय करता है तथा अहकार ममकार भावको दूर रखता हुआ आगामी कर्मके आश्रवका सवर भी करता है। वास्त-

वर्में यही मुनिका यथाजातरूपपना है । यथाजातरूप निर्ग्रंथका दूसरा अर्थ वस्त्रादि परिग्रह रहित निर्ग्रन्थपना या नग्नपना है ।

साधुका मन जबतक इतना दृढ न होगा कि वह वस्त्रके अभावमें शीत, उष्ण, वर्षा, डांस मच्छर आदि व भूमिशयन आदिके कष्टको सहजमें सह सके तबतक उसका मन रहके मम त्वसे रहित नहीं होता हुआ आत्मानन्दमें यथार्थ प्रवृत्तताको लाभ नहीं करता है । इसलिये यह द्रव्यलिंग साधुके अंतरंग भाव लिंगके लिये निमित्त कारण है । निमित्तके अभावमें उपादान अपनी अवस्थाको नहीं बदल सक्ता है । जैसा निमित्त होता है वैसा ही उपादानमें परिणमन होता है ।

जैसे सुन्दर भोजनका दर्शन भोजनकी लालसा होनेमें, सुन्दर स्त्रीका दर्शन कामभोगकी इच्छा होनेमें, १६ वर्णीका अग्निका ताव सुवर्णको शुद्ध बनानेमें निमित्त है । वैसे शुद्ध निर्विकल्प आत्मलिंगरूप आत्माके भावोंके परिणमनमें साधुका परिग्रह रहित नग्न होना निमित्त है । जैसा बालक जन्मके समयमें होता है वैसा ही होजाना साधुका यथा जात रूप है । यहां गृहस्थकी संगतिमें पड़ कर जो कुछ वस्त्राभूषण स्त्री आदिका ग्रहण किया था उस सबको त्यागकर जैसा जन्मा था वैसा होजाना साधुका सच्चा विरक्त या त्याग भाव है ।

शरीर आत्माके वासका सहारा है, तपस्याका साधक है । इस-लिये शरीर मात्रकी रक्षा करते हुए और शरीरपर जो कुछ परवस्तु धार रक्खी थी उसको त्याग करते हुए जो सहनशील और वीर होते हैं वे ही निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्राके धारक हैं । मनकी दृढ़तासे

बडे २ कष्ट सहजमें सहे जासक्ते हैं। एक लोभी मजूर ज्येष्ठकी उष्णतामें नंगे पैर काठका बोझा लिये चला जाता है उस समय पैसेके लोभने उसके मनको दृढ कर दिया है। एक व्यापारी वणिक धन कमानेकी लालसासे उष्णकालमें मालको उठाता धरता, बीनता सवारता कुछ भी कष्ट नहीं अनुभव करता है क्योंकि लोभ कषायने उस समय उसके मनको दृढ कर दिया है। इसी तरह आत्मरसिक साधु आत्मानन्दकी भावनासे प्रेरित हो तपस्या करते हुए तथा शीत, घाम, वर्षा, डांस मच्छर आदि बाईस परीसहोंको सहते हुए भी कुछ भी कष्ट न मालूम करके आत्मानन्दका स्वाद लेरहे हैं, क्योंकि आत्मलाभके प्रेमने उनके मनको दृढ कर दिया है।

जो कायर हैं वे नग्नपना धार नहीं सक्ते। वीरोंके लिये युद्धमें जाना, शत्रु द्वारा प्रेरित बाण-वर्षाका सहना तथा शत्रुका विजयपाना एक कर्तव्य कर्म है वैसे ही वीरोंके लिये कर्म शत्रुओंके साथ लडनेको मुनिपदके युद्धमें जाना, अनेक परीसह व उपसर्गोंका सहना, तथा कर्म शत्रुको जीतना एक कर्तव्य कर्म है। दोनों ही वीर अपने २ कार्यमें उत्साही व आनन्दित रहते हैं।

नग्नपना धारना कोई कठिन बात भी नहीं है। हरएक कार्य अभ्याससे सुगम होजाता है। श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंका जो अभ्यास करते हैं उनको धीरे २ वस्त्र कम करते हुए ग्यारहवें पदमें एक चद्दर और एक लंगोटी ही धारनेका अभ्यास हो जाता है। बस फिर साधु पदमें लंगोटीका भी छोड देना सहज होजाता है। जहां तक शरीरमें शीत उष्ण डांस मच्छर आदिके सहनेकी शक्ति न हो व लज्जा व कामभावका नाश न होगया हो वहांतक

साधु पदके योग्य वह व्यक्ति नहीं होता है। साधुपदमें नग्नपना मुख्य आलम्बन है। जैसी दशामें जन्म हुआ था वैसी दशामें अपनेको रखना ही यथाजातरूपपना है। जो कुछ वस्त्राभरणादि ग्रहण किये थे उन सबका त्याग करना ही निर्ग्रन्थ पदको धारण करना है। श्री मूलाचारजीमें इस नग्नपनेको अट्ठाइस मूलगुणोंमें गिनाया जिसका स्वरूप ऐसा बताया है—

वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्तादिणा असंवरणं।
णिब्भूसण णिग्गंथ अच्चेलक्कं जगदि पुज्जं ॥ ३० ॥
(मूलगुण अ०)

भावार्थ—जहां कम्बलादि वस्त्र, मृगछाला आदि चर्म, वृक्षोंकी छाल वक्कल, व वृक्षोंके पत्ते आदिका कोई प्रकारका ढकना शरीरपर न हो, आभूषण न हो, तथा बाहरी स्त्री पुत्र धन धान्यादि व अन्तरङ्ग मिथ्यात्व आदि २४ परिग्रहसे रहित हो वहीं जगतमें पूज्य अचेलकपना या वस्त्रादि रहितपना, परमहंस स्वरूप नग्नपना होता है। वस्त्रोंके रखनेसे उनके निमित्तसे इनको धोने धुलानेमें हिंसा होगी। उनके भीतर न धोनेसे जन्तु पड़ जायगें तब बैठने उठने हिंसा करनी पड़ेगी अतएव अहिंसा महाव्रतका पालन वस्त्र रखनेमें नहीं होसक्ता है।

स्वामी समन्तभद्रने श्री नमिनाथकी स्तुति करते हुए कहा है—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमम्।
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ॥
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयम्।
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥ ११ ॥

भावार्थ-प्राणियोंकी हिंसा न करना जगतमें एक परमब्रह्म भाव है, जिस आश्रममें थोड़ा भी आरम्भ है वहा यह अहिंसा नहीं है इसीसे उस अहिंसाकी सिद्धिके लिये आप परम करुणाधारीने अंतरङ्ग बहिरंग दोनों ही प्रकारकी परिग्रहका त्याग कर दिया और किसी प्रकारके जटा मुकुट भस्मधारी आदि वेषोंमें व वस्त्राभरणादि परिग्रहमें रञ्चमात्र रति नहीं रक्खी अर्थात् आप यथाजातरूपधारी होगए। श्री विद्यानंदीस्वामी पात्रकेशरी स्तोत्रमें कहते हैं—

जिनेश्वर न ते मत पटकवस्त्रपात्रग्रहो।
विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैः कल्पित ॥
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद्द् वृथा नग्नता।
न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते ॥४१॥

भावार्थ-हे जिनेंद्र! आपके मतमें साधुओंके लिये ऊन कपासादिके वस्त्र रखना व भिक्षा लेनेका पात्र रखना नहीं कहा गया है। इनको सुखका कारण जानके स्वयं असमर्थ साधुओंने इनका विधान किया है। यदि परिग्रह सहित मुनिपना भी मोक्षमार्ग हो जाय तो आपका नग्न होना वृथा होजावे, क्योंकि यदि वृक्षका फल हाथमें ही मिलना सहज हो तो कौन बुद्धिमान वृक्षपर चढ़ेगा।

श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं —

षट्खण्डाधिपतिश्चक्री परित्यज्य वसुन्धराम्।
तृणवत् सर्वभोगांश्च दीक्षां दैगम्बरीं स्थिताः ॥ १-६ ॥

भावार्थ-छः खण्डका स्वामी चक्रवर्ती भी सर्व पृथ्वीको और सर्व भोगोंको तिनकेके समान त्यागकर दिगम्बरी दीक्षाको धारण करते हैं।

पंडित आशाधरजीने अनगारधर्मामृतमें नाग्न्य परीषहको कहते हुए साधुके नग्नपना ही होता है ऐसा बताया है —

निर्ग्रन्थनिर्भूषण विश्वपूज्यनाग्न्यव्रतो दोषयितु प्रवृत्ते ।
चित्ते निमित्ते प्रबलेपि यो न स्पृश्येत दोषैर्जितनाग्न्यरुक्स ॥६४अ.६

जो साधु नग्नपनेकी परिषहको जीतनेवाला है जो चित्तको बिगाड़नेके प्रबल निमित्त होनेपर भी रागद्वेषादि दोषोंसे लिप्त नहीं होता है । उसीका नग्नपनेका व्रत जगतपूज्य है उसमें न कोई वस्त्रादि परिग्रहका ग्रहण है और न आभूषणादिका ग्रहण है ।

इस तरह इस गाथामें यह दृढ किया गया है कि साधुके निर्ममत्व जितेन्द्रियपना और नग्नपना होना ही चाहिये ॥ ४ ॥

उत्थानिका—आगे यह उपदेश करते हैं कि पूर्व सूत्रमें कहे प्रमाण यथाजातरूपधारी निर्ग्रन्थके अनादिकालमें भी दुर्लभ ऐसी निज आत्माकी प्राप्ति होती है । इसी स्वात्मोपलब्धि लक्षणको बतानेवाले चिन्ह उनके बाहरी और भीतरी दोनों लिंग होते हैं —

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं ।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥ ५ ॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जोण्हं ॥ ६ ॥

यथाजातरूपजातमुत्पाटितकेशश्मश्रुकं शुद्धम् ।
रहितं हिंसादितो प्रतिकर्म भवति लिङ्गम् ॥ ५ ॥
मूर्छारम्भवियुक्तं युक्तमुपयोगयोगशुद्धिभ्याम् ।
लिङ्गं न परापेक्षमपुनर्भवकारणं जैनम् ॥ ६ ॥ (युग्मम्)

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(लिंग) मुनिका द्रव्य या बाहरी चिन्ह (जधजादरूवजादं) जैसा परिग्रह रहित नग्नस्वरूप

होता है वैसा होता है (उप्पाडिदकेसमंसुग) जिसमें सिर और डाढ़ीके बालोंका लोच किया जाता है (सुद्ध) जो निर्मल और (हिंसादीदो रहिदं) हिंसादि पापोंसे रहित तथा (अप्पडिकम्म) शृंगार रहित (हवदि) होता है। तथा (लिंग) मुनिका भाव चिन्ह (मुच्छारम्भविजुत्तं) ममता आरम्भ करनेके भावके रहित तथा (उवजोगजोगसुद्धीहिं जुत्त) उपयोग और ध्यानकी शुद्धि सहित (परावेक्खण) परद्रव्यकी अपेक्षा न करनेवाला (अपुणब्भवकारण) मोक्षका कारण और (जोण्ह) जिन सम्बन्धी होता है।

विशेषार्थः—जैन साधुका द्रव्यलिंग या शरीरका चिन्ह पाच विशेषण सहित जानना चाहिये–(१) पूर्व गाथामें कहे प्रमाण निर्ग्रन्थ परिग्रह रहित नग्न होता है (२) मस्तकके और डाढ़ी मूछोंके शृगार सम्बन्धी रागादि दोषोंके हटानेके लिये सिर व डाढ़ी मूंछोंके केशोंको उपाडे हुए होता है (३) पाप रहित चैतन्य चमत्कारके विरोधी सर्व पाप सहित योगोंसे रहित शुद्ध होता है (४) शुद्ध चैतन्यमई निश्चय प्राणकी हिंसाके कारणभूत रागादि परिणतिरूप निश्चय हिंसाके अभावसे हिंसादि रहित होता है (५) परम उपेक्षा संयमके बलसे देहके सस्कार रहित होनेसे शृगार रहित होता है। इसी तरह जैन साधुका भाव लिंग भी पाच विशेषण सहित होता है। (१) परद्रव्यकी इच्छा रहित व मोह रहित परमात्माकी ज्ञान ज्योतिसे विरुद्ध बाहरी द्रव्योंमें ममताबुद्धिको मूर्छा कहते हैं तथा मन वचन कायके व्यापार रहित चैतन्यके चमत्कारसे प्रतिपक्षी व्यापारको आरम्भ कहते हैं। इन दोनोंसे मूर्छा और आरम्भसे रहित है [illegible] (२) विकार रहित स्वसंवेदन लक्षण [illegible]

उपयोग और निर्विकल्प समाधिमई योग इन दोनोंकी शुद्धि सहित होता है (३) निर्मल आत्मानुभवकी परिणति होनेसे परद्रव्यकी सहायता रहित होता है (४) बारबार जन्म धारणके नाश करने- वाले शुद्ध आत्माके परिणामोंके अनुकूल पुनर्भव रहित मोक्षका कारण होता है (५) व जिन भगवान सम्बधी अथवा जैसा जिनेंद्रने कहा है वैसा होता है। इस तरह जैन साधुके द्रव्य और भाव लिंगका स्वरूप जानना चाहिये।

भावार्थ-आचार्यने पूर्व गाथामें मुनिपदकी जो अवस्था बताई थी उसीको विशेषरूपसे इन दो गाथाओंमें वर्णन किया गया है। मुनिपदके दो प्रकार चिन्ह होते हैं एक बहिरंग दूसरे अन्तरङ्ग। इन्हींको क्रमसे द्रव्य और भाव लिंग कहते हैं। बाहरके लिंगके पाच विशेषण यहा बताए हैं। पहला यह कि मुनि जन्मके समय नग्न बालकके समान सर्व वस्त्रादि परिग्रहसे रहित होते हैं इसीको यथाजातरूप या निर्ग्रंथरूप कहते हैं। दूसरा चिन्ह यह है कि मुनिको दीक्षा लेते समय अपने मस्तक डाढी मूछोंके केशोंका लोच करना होता है वैसे ही दो तीन या चार मास होनेपर भी लोच करना होता है। इसलिये उनका बाहरी रूप ऐसा मालूम होता है मानो उन्होंने स्वय अपने हाथों हीसे घासके समान केशोंको उखाड़ा है। लोच करना मुनिका आवश्यक कर्तव्य है। जैसा मूलाचा- रजीमें कहा है —

वियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्स मज्झिमजहण्णो।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासे णेव कायव्वो ॥ २९ ॥

(मूलगुण अ०)

भावार्थ–केशोंका लोच दो मासमें करना उत्कृष्ठ है, तीन मासमें करना मध्यम है, चार मासमें करना जघन्य है। प्रतिक्रमण सहित लोच करना चाहिये अर्थात् लोच करके प्रतिक्रमण करना चाहिये और उस दिन अवश्य उपवास करना चाहिये। मूलाचारकी वसुनदि सिद्धांत चक्रवर्तीकृत संस्कृतवृत्तिसे यह भाव झलकता है कि दो मासके पूर्ण होनेपर उत्कृष्ट है, तीन मास पूर्ण हों व न पूर्ण हों तब करना मध्यम है, तथा चार मास अपूर्ण हों व पूर्ण हो तब करना जघन्य है। नाधिकेषु शब्द कहता है कि इससे अधिक समय विना लोच न रहना चाहिये। दो मासके पहले भी लोच नहीं करना चाहिए वैसे ही चार माससे अधिक विना "लोच नहीं रहना चाहिये। लोच शब्दकी व्याख्या इस तरह है–लोच वालोत्पाटन हस्तेन मस्तकश्मश्रुकेशणामपनयन जीवसम्मूर्छनादिपरिहारार्थं रागादिनिराकरणार्थं स्ववीर्यप्रकटनार्थं सर्वोत्कृष्टतपश्चरणार्थं लिंगादिगुणज्ञापनार्थं चेति"

भावार्थः–हाथसे बालोंको उखाड़ना लोच है। मस्तकके केश व दाढ़ी मूछके केशोंको दूर करना चाहिये जिसके लिये ५ हेतु है–(१) सन्मूर्छन विकलत्रय आदि जीवोंकी उत्पत्ति बचानेके लिये (२) रागादि भावोंको दूर करनेके लिये (३) आत्मबलके प्रगटाने के लिये (४) सबसे उत्कृष्ट तपस्या करनेके लिये (५) मुनिपनेके चिह्नको प्रगट करनेके लिये। छुरी आदिसे लोच न करके हाथोंसे क्यों करते हैं इसके लिये लिखा है "दैन्यवृत्तियाचनपरिग्रहपरिभवादिदोषपरित्यागात्" अर्थात् दीनतापना, याचना, ममता व लज्जित होने आदि दोषोंको त्या...

अनगारधर्मामृतमें भी कहा है —

लोचो द्वित्रिचतुर्मासैर्वरो मध्योधम स्यात् ।
लघुप्राग्भक्तिभि कार्यं सोपवासप्रतिक्रम ॥ ८६ अ० ६

लोच दो, तीन, चार मासमें उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य होता है। सो लोचके पहले लघु सिद्धभक्ति और योग भक्ति करे, पूरा करने भी लघु भक्ति कर। प्रतिक्रमण तथा उपवास भी करे।

तीसरा विशेषण द्रव्य लिंगका शुद्ध है। जिससे यह भाव झलकता है कि उनका शरीर निर्मल आकृतिको रखता है—उसमें वक्रता व कषायका झलकाव नहीं होता है। जहा परिणामोंमें मैल होता है वहा मुख आदि बाहरी अंगोंमें भी मैल या कुटिलता झलकती है। साधुके निर्मल भाव होते हैं इसलिये मुख आदि अङ्ग उपगोंमें सरलता व शुद्धता प्रगट होती है। जिनका मुख देखनेमे उनके भीतर भावोंकी शुद्धता है ऐसा ज्ञान दर्शकको होजाता है।

चौथा विशेषण हिंसादिसे रहितपना है। मुनिकी बाहरी क्रियाओंसे ऐसा प्रगट होना चाहिये कि वे परम दयावान हैं। स्थावर व त्रस जीवोंका वध मेरे द्वारा न होजावे इस तरह चलने, बैठने सोने, बोलने, भोजन करने आदिमें वर्तते हैं, कभी असत्य, कटुक, पीडाकारी वचन नहीं बोलते हैं, कभी किसी वस्तुको विना दिये नहीं लेते हैं, आवश्यक्ता होनेपर भी वनके फलोंको व नदी बापिकाके जलको नहीं लेते मन वचन कायसे शीलव्रतको सर्व दोषोंसे बचाकर पालते हैं, कभी कोई सचित्त अचित्त परिग्रह रखते नहीं, न आरम्भ करते हैं। इस तरह जिनका द्रव्यलिंग पच पापोंसे रहित होता है।

पाचवा विशेषण यह है कि मुनिका द्रव्यलिंग प्रतिकर्म रहित होता है। मुनि महाराज अपने शरीरकी जरा भी शोभा नही चाहते है इसी लिये स्नान नही करते, स्नान नहीं करते, उसे किसी भी तरह भूषित नही करते है। इस तरह जैसे पाच विशेषण द्रव्यलिंगके है वैसे ही पाच विशेषण भाव लिंगके है। मुनि महाराजका भाव इस भावसे रहित होता है कि निज आत्माके सिवाय कोई भी परवस्तु मेरी है। उनको सिवाय निज शुद्ध भावके और सब भाव हेय झलकते है, न उनके भावोंमें असि मसि आदि व चूल्हा चक्की आदि आरम्भ करनेके विचार होते है इसलिये उनका भाव मूर्छा और आरम्भ रहित होता है। ४६ दोष ३२ अन्तराय टालकर भोजन करूँ ऐसा उनके नित्य विचार रहता है। दूसरा विशेषण यह है कि उनके उपयोग और योगकी शुद्धि होती है। उपयोगकी शुद्धिसे अर्थ यह है कि वे अशुभोपयोग और शुभोपयोगमें नही रमते, उनकी रमणता रागद्वेष रहित साम्यभावमें अर्थात शुद्ध आत्मीक भावमे होती है। योगकी शुद्धिसे मतलब यह है कि उनके मनवचन काय थिर हों और वे ध्यानके अभ्यासी हो। उनके योगोंमे कुटिलता न होकर ध्यानकी अत्यन्त आशक्तता हो। तीसरा विशेषण यह है कि उनका भाव परकी अपेक्षा रहित होता है। अर्थात भावोंमें स्वात्मानुभवकी तरफ ऐसा झुकाव है कि वहा परद्रव्योंके आलम्बनकी चाह नहीं होती है-वे नित्य निजानन्दके भोगी रहते है। चोथा विशेष यह है कि मुनिका भाव मोक्षका साक्षात कारण रूप अभेद रत्नत्रयमई होता है। भावोंमें निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक चारित्रकी तन्मयता रहती है यही मुक्तिका

मार्ग है इसीसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। पाचवा विशेषण यह है कि मुनिका भाव जिन सम्बन्धी होता है अर्थात् जैसा तीर्थंकरोंका मुनि अवस्थामें भाव था वैसा भाव होता है अथवा जिन आगममें जो साधुके योग्य भावोंका कथन करा है उससे परिपूर्ण होता है। ऐसे द्रव्य और भाव लिंगधारी साधु ही सच्चे जैनके साधु हैं। श्री देवसेन आचार्यने तत्त्वसारमें कहा है —

> बहिरब्भतरगंथा मुक्का जे णेह तिविहजोएण ।
> सो णिग्गंथो भणिओ जिणलिंगसमासिओ सवणो ॥१०॥
> लाहालाहे सरिसो सुहदुक्खे तह य जीविए मरणे ।
> बंधो अरयसमाणो झाणसमत्थो हु सो जोइ ॥ ११ ॥

भावार्थ—जिसने बाहरी और भीतरी परिग्रहको मन वचन काय तीनों योगोंसे त्याग दी है वह जिनचिन्हका धारी मुनि निग्रंथ कहा गया है। जो लाभ हानिमें, सुख दुःखमें, जीवन मरणमें बंधु शत्रुमें समान भावका धारी है वही योगी ध्यान करनेको समर्थ है।

श्री गुणभद्राचार्यने आत्मानुशासनमें साधुओंका स्वरूप इसतरह बताया है—

> समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः ।
> स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः —
> स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः ।
> कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥२२६॥

भावार्थ—जो विरक्त साधु सर्व शास्त्रके भलेप्रकार ज्ञाता हैं, जो सर्व पापोंसे दूर हैं, जो अपने आत्महितमें चित्तको धारण किये हुए हैं, जो शांतभाव सहित सर्व आचरण करते हैं, जो स्वपर

हितकारी वचन बोलते हैं व जो सर्व मकल्पोंसे रहित हैं वे क्यों नहीं मोक्षके पात्र होंगे ? अवश्य होंगे ॥ ७ ॥

उत्थानिका-आगे यह कहते हैं कि मोक्षार्थी इन दोनों द्रव्य और भावलिंगोंको ग्रहणकर तथा पहले भावि नैगमनयसे जो पच आचारका स्वरूप कहा गया है उसको इस समय स्वीकार करके उस चारित्रके आधारसे अपने स्वरूपमें तिष्ठता है वही श्रमण होता है–

आदाय तपि लिंग गुरुणा परमेण त णमसित्ता ।
सोचा सवदं किरिय उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥७॥

आदाय तदपि लिङ्ग गुरुणा परमेण त नमस्कृत्य । *
श्रुत्वा सव्रत क्रियामुपस्थितो भवति स श्रमण ॥ ७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(परमेण गुरुणा) उत्कृष्ट गुरुसे (तपि लिंग) उस उभय लिंगको ही (आदाय) ग्रहण करके फिर (त णमसित्ता) उस गुरुको नमस्कारके तथा (सवद किरिय) व्रत सहित क्रियाओंको (सोचा) सुन करके (उवट्ठिदो) मुनि मार्गमें तिष्ठता हुआ (सो) वह मुमुक्षु (समणो) मुनि (हवदि) होजाता है।

विशेषार्थ–दिव्यध्वनि होनेके कालकी अपेक्षा परमागमका उपदेश करनेरूपसे अर्हत भट्टारक परमगुरु हैं, दीक्षा लेनेके कालमें दीक्षादाता साधु परमगुरु हैं । ऐसे परमगुरु द्वारा दी हुई द्रव्य और भाव लिंगरूप मुनिकी दीक्षाको ग्रहण करके पश्चात् उसी गुरुको नमन करके उसके पीछे व्रतोंके ग्रहण सहित वृहत् प्रतिक्रमण क्रियाका वर्णन सुनकरके भलेप्रकार स्वस्थ होताहुआ वह पर्वमें कहा-हुआ तपोधन अब श्रमण होजाता है ।

विस्तार यह है कि पूर्वमें कहे हुए द्रव्य और भाव लिंगको धारण करनेके पीछे पूर्व सूत्रोंमें कहे हुए सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्यरूप पांच आचारोंका आश्रय करता है। फिर अनन्त ज्ञानादि गुणोंका स्मरणरूप भाव नमस्कारसे तैसे ही उन गुणोंको कहनेवाले वचन रूप द्रव्य नमस्कारसे गुरु महाराजको नमस्कार करता है। उसके पीछे सर्व शुभ व अशुभ परिणामोंसे निवृत्तिरूप अपने स्वरूपमें निश्चलतासे तिष्ठनेरूप परम सामायिकव्रतको स्वीकार करता है। मन,वचन,काय, कृत, कारित, अनुमोदनासे तीन जगत तीन कालमें भी सर्व शुभ अशुभ कर्मोंसे भिन्न जो निज शुद्ध आत्माकी परिणतिरूप लक्षणको रखनेवाली क्रिया उसको निश्चयसे वृहत् प्रतिक्रमण क्रिया कहते हैं। व्रतोंको धारण करनेके पीछे इस क्रियाको सुनता है, फिर विकल्प रहित होकर कायका मोह त्यागकर समाधिके बलसे कायोत्सर्गमें तिष्ठता है। इस तरह पूर्ण मुनिकी सामग्री प्राप्त होनेपर वह पूर्ण श्रमण या साधु होजाता है यह अर्थ है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने मुनि होनेकी विधिको संकोच करके कहा है कि जो मुनिपद धारनेका उत्साही होता है वह किसी दीक्षा देने योग्य गुरुकी शरणमें जाता है और उनकी आज्ञासे वस्त्राभूषण त्याग, सिर आदिके केशोंको उखाड़, नग्न मुद्राधार मोर पिच्छिका और कमण्डलु ग्रहण करके द्रव्यलिंगका धारी होता है। अन्तरङ्गमें पांच महाव्रत, पांच समिति तथा तीन गुप्तिका अवलम्बन करके भाव लिंगको स्वीकार करता है पश्चात् दीक्षादाता गुरुमें परम भक्ति रखता हुआ उनको भाव सहित नमस्कार करता है।

तब गुरु उसको व्रतोंका स्वरूप तथा प्रतिक्रमण क्रियाका स्वरूप निश्चय तथा व्यवहार नयसे समझाते हैं। उसको सुनकर वह बड़े आदरसे धारणामें लेता है व सर्व शरीरादिसे ममत्व त्याग ध्यानमें लवलीन हो जाता है। इस तरह सामायिक चारित्रका धारी यह साधु होकर 'मोक्षमार्गकी साधना साम्यभावरूपी गुफामें तिष्ठनेसे होती है' ऐसा श्रद्धान रखता हुआ निरन्तर साम्यभावका आश्रय लेता हुआ कर्मोंकी निर्जरा करता है। साधुपदमें सर्व परिग्रहका त्याग है किन्तु जीवदयाके लिये मोर पिच्छिका और शौचके लिये जल सहित कमण्डल इसलिये रखते जाते हैं कि महाव्रतोंके पालनेमें बाधा न आवे। इनमें शरीरका कोई ममत्व नहीं सिद्ध होता है। साधु महाराज अपने भावोंको अत्यन्त सरल, शांत व अध्यात्म रसपूर्ण रखते हैं। मौन सहित रहनेमें ही अपना सच्चा हित समझते हैं। प्रयोजनवश बहुत अल्प बोलते हैं फिर भी उसमें तन्मय नहीं होते हैं। श्री पूज्यपाद स्वामीने इष्टोपदेशमें कहा है—

> इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनितादरः ।
> निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतं ॥४०॥
> ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति ।
> स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४१ ॥

भावार्थ—साधु महाराज निर्जन स्थानके प्रेमालु होकर एकांतमें वास करना चाहते हैं तथा कोई निजी कार्यके वशसे कुछ कहकर शीघ्र भूल जाते हैं इसलिये वे कहते हुए भी नहीं कहते हैं, जाते हुए भी नहीं जाते हैं, देखते हुए भी नहीं देखते हैं, कारण यह है कि उन्होंने अपने आत्मतत्त्वमें स्थिरता प्राप्त

है । वास्तवमें साधु महाराज आत्मानुभवमें ऐसे लीन होते हैं कि उनको अपने आत्मभोगके सिवाय अन्य कार्यकी अन्तरङ्गमे रुचि नहीं होती है ।

साधुका द्रव्यलिंग वस्त्र रहित नग्न दिगम्बर होता है । जहां तक वस्त्रका सम्बन्ध है वहां तक श्रावकका व्रत पालना योग्य है । श्वेताम्बर जैन ग्रन्थोंमें नग्न भेषको ही श्रेष्ठ कहा है । प्रवचनसारोद्धारके प्रकरण रत्नाकर भाग तीसरा (मुद्रित भीमसिंह माणिकजी स० १९३४) पृष्ठ १०४ में है "पाउरण वज्जियाण विसुद्धजिणकप्पियाण तु" अर्थात् जे प्रावरण एटले कपडा वर्जित छे ते स्वल्पोपधि पणे करी विशुद्ध जिनकल्पिक कहेवाय छे भाव यह है कि जो वस्त्र रहित होते हैं वे विशुद्ध जिनकल्पी कहलाते हैं ।

आचाराग सूत्र (छपा १९०० राजकोट प्रेस प्रोफेसर रावजीभाइ देवराज द्वारा) में अध्याय आठवेंमे नग्न साधुकी महिमा है--

' जे भिक्खू अचेले परिवुसिते तस्स ण एव भवति चाएमि अ० तण फास अहिया सित्तए सीयफास अहिया सित्तए तेउफास अहिया सित्तए, दसमसगफास अहिया सित्तए, एग तरे अन्नतरे विरुवरूवे काते अहिया सित्तए (४३३ गाथा पृ १२६)

भावार्थ--जो साधु वस्त्र रहित दिगम्बर हो उसको यह होगा कि मैं घासका स्पर्श सह सक्ता हूं शीत ताप सह सक्ता हूं, डांस मशकका उपद्रव सह सक्ता हूं और दूसरी भी अनुकूल प्रतिकूल परीषह सह सक्ता हूं । इसी सूत्रमें यह भी कथन है कि महावीर स्वामीने नग्न दीक्षा ली थी तथा बहुत वर्ष नग्न तप किया (अ० ९ पृ० १२९-१३४) श्री मूलाचारजीमें गाथा १४ में कहा है

कि सयमोपधि पिन्छिका है तथा शौचोपधि कमण्डल है जैसे "सयमोपधि प्राणिदयानिमित्त पिच्छिकादि शौचोपधि मूत्रपुरीपादिप्रक्षालन निमित्त कुंडिकादि द्रव्यम्। अर्थात् प्राणियोंकी रक्षाके वास्ते पिच्छिका तथा मूत्रमलादि धोनेके वास्ते कमण्डल रखते है। मयूरके पखोंकी पीछी क्यों रखनी चाहिये इसपर मूलाचारमें कहा है—

रजसेदाणमगहण मद्दवसुकुमालदा लहुत्तच ।
जत्थेदे पचगुणा त पडिलिहण पसंसंति ॥ ६१० ॥

भावार्थ—जिसमें ये पाच गुण हैं वही पिछिका प्रशसा योग्य है—(१) (२) जिसमें धूल व पसीना न लगे। अर्थात् जो धूल और पसीनेसे मैली न हो (३) जो बहुत कोमल हो कि आखमें भी फेरी हुई व्यथा न करे "मृदुत्त्व चक्षुपि प्रक्षिप्तमपि न व्यथयति" (४) जो सुकुमार अर्थात् दर्शनीय हो (५) जो हलकी हो। ये पाचो गुण मोर पिच्छिकामें पाए जाते है "यत्रैते पञ्चगुणा द्रव्ये सति तत्प्रतिलेखन मयूरपिच्छग्रहण प्रशसति" जिसमे ये पाच गुण हैं उसीकी पिच्छिका ठीक है। इसीलिये आचार्योंने मोर पीछीको सराहा है।

ऊपरकी गाथाओंका सार यह है कि साधुका बाहरी चिन्ह नग्नभेष, पीछी कमडल सहित होता है। आवश्यक्ता पडनेपर ज्ञानका उपकरण शास्त्र रखते है। अतरङ्ग चिन्ह अभेद रत्नत्रयमई आत्मामें लीनता होती है और मुनि योग्य आचरणके पालनमें उत्साह होता है।

इस तरह दीक्षाके सन्मुख पुरुपकी दीक्षा लेनेके कथनकी मुख्यतासे पहले स्थलसे सात गाथाए पूर्ण हुई ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जब निर्विकल्प सामायिक नामके संयममें ठहरनेको असमर्थ होकर साधु उससे गिरता है तब सविकल्प छेदोपस्थापन चारित्रमें आ जाता है– –

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं, ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ ८ ॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥ ९ ॥

व्रतसमितीन्द्रियरोधो लोचावश्यकमचैलक्यमस्नानम् ।
क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तं च ॥ ८ ॥
एते खलु मूलगुणाः श्रमणानां जिनवरैः प्रज्ञप्ताः ।
तेषु प्रमत्तः श्रमणः छेदोपस्थापको भवति ॥९॥ (युग्मम्)

अन्वय सहित सामान्यार्थ –(वदसमिदिंदियरोधो) पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियोंका निरोध (लोचावस्सं) केश-लोंच, छः आवश्यक कर्म (अचेलमण्हाणं) नग्नपना, स्नान न करना, (खिदिसयणमदंतवणं) पृथ्वीपर सोना, दन्तवन न करना (ठिदिभोयणमेयभत्तं च) खडे हो भोजन करना, और एकवार भोजन करना (एदे) ये (समणाणं मूलगुणा) साधुओंके अट्ठाईस मूल गुण (खलु) वास्तवमें (जिणवरेहिं पण्णत्ता) जिनेन्द्रोंने कहे हैं। (तेसु पमत्तो) इन मूलगुणोंमें प्रमाद करनेवाला (समणो) साधु (छेदोवट्ठावगो) छेदोपस्थापक अर्थात् व्रतके खण्डन होनेपर फिर अपनेको उसमें स्थापन करनेवाला (होदि) होता है।

विशेषार्थ–निश्चय नयमें मूल नाम आत्माका है उस आत्माके केवलज्ञानादि अनंत गुणमूल गुण हैं। ये सब मूलगुण उस समय प्रगट

होते हैं जब विकल्प रहित समाधिरूप परम सामाईक नामके निश्चय व्रतके द्वारा 'जो मोक्षका बीज है' मोक्ष प्राप्त होजाती है। इस कारणसे वही सामाईक आत्माके मूल गुणोंको प्रगट करनेके कारण होनेसे निश्चय मूलगुण होता है। जब यह जीव निर्विकल्प समाधिमें ठहरनेको समर्थ नहीं होता है तब जैसे कोई भी सुवर्णको चाहनेवाला पुरुष सुवर्णको न पाता हुआ उसकी कुंडल आदि अवस्था विशेषोंको ही ग्रहण कर लेता है, सर्वथा सुवर्णका त्याग नहीं करता है तैसे यह जीव भी निश्चय मूलगुण नामकी परम समाधिका लाभ न होनेपर छेदोपस्थापना नाम चारित्रको ग्रहण करता है। छेद होनेपर फिर स्थापित करना छेदोपस्थापना है। अथवा छेदसे अर्थात् व्रतोंके भेदसे चारित्रको स्थापन करना सो छेदोपस्थापना है। वह छेदोपस्थापना संक्षेपसे पांच महाव्रत रूप है। उन ही व्रतोंकी रक्षाके लिये पांच समिति आदिके भेदसे उसके अट्ठाईस मूलगुण भेद होते हैं। इन ही मूलगुणोंकी रक्षाके लिये २२ परीषहोंका जीतना व १२ प्रकार तपश्चरण करना ऐसे चौतीस उत्तरगुण होते हैं। इन उत्तर गुणोंकी रक्षाके लिये देव, मनुष्य, तिर्यंच व अचेतन कृत चार प्रकार उपसर्गका जीतना व बारह भावनाओंका भावना आदि कार्य किये जाते हैं।

भावार्थ-इन दो गाथाओंमें आचार्यने वास्तवमें परम सामायिक चारित्ररूप निश्चय चारित्रके निमित्तकारणरूप व्यवहार चारित्रका कथन करके उसमें जो दोष हो जाय उनको निवारण करनेवालेको छेदोपस्थापना चारित्रवान बताया है।

साधुका व्यवहारचारित्र २८ मूलगुणरूप

५ परिग्रहत्यागव्रत मूलगुण ।

जीवणिबद्धा बद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव ।
तेसिं सक्कचाओ इयरम्हि य णिम्मओऽसंगो ॥ ६ ॥

भावार्थ—जीवोंके आश्रित परिग्रह जैसे मिथ्यात्व वेद रागादि, जीवसे अबद्ध परिग्रह जैसे क्षेत्र वस्तु, धन धान्यादि तथा जीवोंसे उत्पन्न परिग्रह जैसे मोती, शंख, चर्म, कम्बलादि इन सबका मन वचन कायसे सर्वथा त्याग तथा पीछी कमंडल शास्त्रादि संयमके उपकारक पदार्थोंमें मूर्छाका त्याग सो परिग्रहत्याग महाव्रत है।

साधु अन्तरङ्गमें औपाधिक भावोंको बुद्धिपूर्वक त्याग देते हैं वैसे ही वस्त्र मकान स्त्री पुत्रादिको सर्वथा छोडते हैं। अपने आत्मीक गुणोंमें आत्मापना रखकर सबसे ममत्व त्याग देते हैं।

६-ईर्यासमिति मूलगुण ।

फासुयमग्गेण दिवा जुगंतरप्पेहिणा सकज्जेण ।
जंतूण परिहरंति इरियासमिदी हवे गमणं ॥ ११ ॥

भावार्थ—शास्त्रश्रवण, तीर्थयात्रा, भोजनादि कार्यवश जन्तु रहित प्रासुक मार्गमें 'जहां जमीन हाथी घोड़े बैल मनुष्यादिकोंसे रौंदी जाती हो' दिनके भीतर चार हाथ भूमि आगे देखकर तथा जन्तुओंकी रक्षा करते हुए गमन करना सो ईर्यासमिति है।

७-भाषासमिति मूलगुण ।

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदाप्पप्पसंसविकहादी ।
वज्जित्ता सपरहियं भासासमिदी हवे कहणं ॥ १२ ॥

भावार्थ—पैशुन्य अर्थात् निर्दोषमें दोष लगाना हास्य, कर्कश, परनिन्दा, आत्मप्रशंसाकारी तथा धर्म कथा विरुद्ध स्त्री कथा, भोजनकथा, चौरकथा व राजकथा आदि वचनोंको छोडकर स्वपर हितकारी वचन रचना सो भाषासमिति है।

८-एषणा समिति मूलगुण।

छादालदोससुद्ध कारणजुत्त विसुद्धणवकोडो।
सीदादी समभुत्तो परिसुद्धा एषणासमिदी॥ १३॥

भावार्थ-भूख आदि कारण सहित छयालीस दोष रहित, मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनाके ९ प्रकारके दोषोंसे शुद्ध शीत उष्ण आदिमें समताभाव रखकर भोजन करना सो निर्मल एषणा समिति है।

मुनि अति क्षुधाकी पीडा होनेपर ही गृहस्थने जो स्वकुटुम्बके लिये भोजन किया है उसीमेंसे सरस नीरस ठन्डा या गर्म जो भोजन मिले उसको ४६ दोष रहित देखकर लेते हैं।

ये ४६ दोष इस भांति हैं—

१६-उद्गम दोष-जो दातारके आधीन है।

१६-उत्पादन दोष-जो पात्रके आधीन है।

१०-भोजन सम्बन्धी शंकित दोष हैं-इन्हें अशन दोष भी कहते हैं।

१-अङ्गार दोष, १ धूम दोष, १ संयोजन दोष, १ प्रमाण दोष।

१६ उद्गम दोष इस भांति हैं—

अध कर्म-जो आहार गृहस्थने त्रस स्थावर जीवोंको बाधा स्वयं पहुंचाकर व बाधा दिलाकर उत्पन्न किया हो उसे अध कर्म कहते हैं। इस सम्बन्धी नीचेके दोष हैं—

१-औद्देशिक दोष-जो आहार इस उद्देश्यसे बनाया हो कि जो कोई भी लेनेवाले आएंगे उनको दूंगा, व जो कोई अच्छे बुरे साधु,

आएंगे उनको दूंगा, व जो कोई आजीवकादि तापसी आएंगे उनको दूगा व जो कोई निर्ग्रन्थ साधु आएंगे उनको दूंगा । इस तरह दूसरोंके उद्देशको मनमें रखकर जो भोजन बनाया हो ऐसा भोजन जैन साधुको लेना योग्य नहीं ।

२–अध्याधिदोष या साधिकदोष–सयमीको आते देखकर अपने बनते हुए भोजनमें साधुके निमित्त और तंदुल आदि मिला देना अथवा सयमीको पडिगाहकर उस समय तक रोक रखना जब तक भोजन तय्यार न हो ।

३ पूतिदोष–प्रासुक भोजनको अप्रासुक या सचित्तसे मिलाकर देना अथवा प्रासुक द्रव्यको इस सकल्पसे देना कि जबतक इस चूल्हेका बना द्रव्य साधुओंको न देंगे तब तक किसीको न न देंगे । इसी तरह जबतक इस उखलीका कूटा व इस दर्वी या कलछीसे व इस बरतनका व यह गध या यह भोजन साधुको न देंगे तबतक किसीको न देंगे इस तरह ९ प्रकार पूति दोष है ।

४–मिश्र दोष–जो अन्न अन्य साधुओंके और गृहस्थोंके साथ २ सयमी मुनियोंको देनेके लिये बनाया गया हो सो मिश्र दोष है ।

५–स्थापित दोष या न्यस्तदोष–जो भोजन जिस बरतनमें बना हो वहासे निकालकर दूसरे बरतनमें रख करके अपने घरमें व दूसरेके घरमें साधुके लिये पहले हीसे रख लिया जाय वह स्थापित दोष है । वास्तवमें चाहिये यही कि कुटुम्बार्थ भोजन बना हुआ अपने २ पात्रमें ही रक्खा रहे । कदाचित् साधु आजाय तो उसका भाग दानमें देवे पहलेसे उद्देश न करे ।

६–बलि दोष–जो भोजन किसी अज्ञानीने यक्ष व नाग आदिके लिये बनाया हो और उनको भेट देकर जो बचा हो वह साधुओंके देनेके लिये रक्खा हो अथवा संयमियोंके आगमनके निमित्त जो यक्षोंके सामने पूजनादि करके भेट चढ़ाना सो सब बलि दोष है।

७ प्राभृत दोष या प्रावर्तितदोष–इसके बादर और सूक्ष्म दो भेद है। हरएकके भी दो भेद हैं-अपकर्षण और उत्कर्षण। जो भोजन किसी दिन किसी पक्ष व किसी मासमें साधुको देना विचारा हो उसको पहले ही किसी दिन, पक्ष या मासमें देना सो अपकर्षण बादर प्राभृत दोष है जैसे सुदी नौमीको जो देना विचारा था उसको सुदी पंचमीको देना। जो भोजन किसी दिन आदिमें देना विचारा था उसको आगे जाकर देना जैसे चैत मासमें जो देना विचारा था उसको वैशाख मासमें देना सो उत्कर्षण बादर प्राभृत दोष है। जो भोजन अपरान्हमें देना विचारा था उसको मध्यान्हमें देना व जिसे मध्यान्हमें देना विचारा था उसको अपरान्हमें देना सो सूक्ष्म अपकर्षण व उत्कर्षण प्राभृत दोष है।

८–प्रादुष्कार दोष–साधु महाराजके घरमें आजानेपर भोजन व भाजन आदिको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें लेजाना यह संक्रमण प्रादुष्कार दोष है। तथा साधु महाराजके घरमें होते हुए बरतनोंको भस्मसे मांजना व पानीसे धोना व दीपक जलाना यह प्रकाशक प्रादुष्कार दोष है। इसमें साधुके उद्देश्यसे आरम्भका दोष है।

९ क्रीततर दोष–क्रीततर दोष द्रव्य और भावसे दो प्रकार है। हरएकके स्व और परके भेदसे दो दो भेद है।

संयमीके भिक्षाके लिये घरमें प्रवेश हो जानेपर

दूसरेका सचित्त द्रव्य गाय भैंसादि किसीको लेकर बदलेमें आहार लेकर देना सो स्वद्रव्य परद्रव्य क्रीततर दोष है। ऐसे ही अपना कोई मन्त्र या विद्या तथा दूसरेके द्वारा मंत्र या विद्या देकर बदलेमें आहार लेकर देना सो स्वभाव परभाव क्रीततर दोष है।

१० ऋण दोष या प्रामित्य दोष-साधुके भिक्षार्थ लिये घरमें प्रवेश होजानेपर किसीसे भोजन उधार लाकर देना। जिससे कर्ज मांगे उसको यह कहकर लेना कि मैं कुछ बढ़ती पीछे दूंगा वह सवृद्धि ऋण दोष है व उतना ही दूंगा यह अवृद्धि ऋण दोष है। यह ऋणदाताको क्लेशका कारण है।

११ परावर्त दोष-साधुके लिये किसीको धान्य देकर बदलेमें चावल लेकर व रोटी लेकर आहार देना सो परावर्त दोष है। साधुके गृह आजानेपर ही यह दोष समझमें आता है।

१२ अभिघट या अभिहृत दोष-इसके दो भेद हैं। देश अभिघट दोष, सर्व अभिघट दोष, एक ही स्थानमें सीधे पंक्ति बद्ध तीन या सात घरोंसे भात आदि भोजन लाकर साधुको देना सो तो आचित्त है अर्थात् योग्य है। इसके विरुद्ध यदि सातसे उपरके घरोंसे हो व सीधे पंक्तिरूप घरोंके सिवाय उल्टे पुल्टे एक या अनेक घरोंसे लाकर देना सो अनाचित अर्थात् अयोग्य है। इसमें देश अभिघट दोष है। सर्व अभिघट दोष चार प्रकार है। अपने ही ग्राममें किसी भी स्थानसे लाकर कहीं पर देना, सो स्वग्राम अभिघट दोष है, पर ग्राममें अपने ग्राममें लाकर देना सो परग्राम अभिघट दोष है। स्वदेशसे व परदेशसे अपने ग्राममें लाकर देना सो स्वदेश व परदेश अभिघट दोष है।

१३ उद्भिन्न दोष—जो घी शक्कर गुड़ आदि द्रव्य किसी भाजनमें मिट्टी या लाख आदिसे ढके हुए हों उनको उघाटकर या खोलकर साधुको देना सो उदभिन्न दोष है। इसमें चींटा आदिका प्रवेश होजाना सम्भव है।

१४ मालारोहण दोष—काठ आदिकी सीढीसे घरके दूसरे तीसरे माल्पर चढ़कर वहांसे साधुके लिये लड्डू शक्कर आदि लाकर साधुको देना सो मालारोहण दोष है। इसमें दाताको विशेष आकुलता साधुके उद्देश्यसे करनी पड़ती है।

१५ आच्छेद्य दोष—राजा व मंत्री आदि ऐसी आज्ञा करें कि जो गृहस्थ साधुको दान न करेगा उसका सब द्रव्य हर लिया जायगा व वह ग्रामसे निकाल दिया जायगा। ऐसी आज्ञाको सुनके भयके कारण साधुको आहार देना सो आच्छेद्य दोष है।

१६ अनीशार्थ दोष या निषिद्ध दोष—यह अनीशार्थ दोष दो प्रकार है। ईश्वर अनीशार्थ और अनीश्वर अनीशार्थ। जिस भोजनका स्वामी भोजन देना चाहे परन्तु उसको पुरोहित मंत्री आदि दूसरे देनेका निषेध करें उस अन्नको जो देवे व लेवे तो ईश्वर अनीशार्थ दोष है।

जिस दानका प्रधान स्वामी न हो और वह दिया जाय उसमें अनीश्वर अनीशार्थ दोष है। उसके तीन भेद हैं व्यक्त, अव्यक्त और व्यक्ताव्यक्त। जिस भोजनका कोई प्रधान स्वामी न हो, उस भोजनको, व्यक्त अर्थात् प्रेक्षापूर्वकारी प्रगट वृद्ध आदि, अव्यक्त अर्थात् अप्रेक्षापूर्वकारी बालक व परतंत्र आदि, व्यक्ताव्यक्त दोनो मिश्ररूप कोई देना चाहे व कोई निषेध करे ऐसे तीन

लिया ले वह अनीश्वर अनीशार्थ दोष है (नोट—जो देना चाहे वह प्रेक्षापूर्वकारी व जो देना न चाहे वह अप्रेक्षा पूर्वकारी ऐसा भाव झलकता है) अथवा दूसरा अर्थ है कि दाता स्वामी प्रगट हो या अप्रगट हो उस दानको रखवाले मना करे सो देवे व साधु लेवे सो व्यक्त अव्यक्त ईश्वर नाम अनीशार्थ दोष है, तथा जिसका कोई स्वामी नहीं ऐसे दानको कोई व्यक्त अव्यक्त रूपसे या किसीके मना करनेपर लेवे सो व्यक्ताव्यक्त अनीश्वर अनीशार्थ दोष है,। तथा एक देवे दूसरा मना करे सो मनाटक नाम अनीशार्थ दोष है। इसका भाव यह है जहां दाता प्रधान न हो उस भोजनको लेना वह अनीशार्थ दोष है (विशेष मूलाचार टीकामें देख लेना)

उत्पादन दोष जो दान लेनेवाले पात्रके आश्रय हैं सो १६ सोलह प्रकार है।

१—धात्रीदोष—धायें पांच प्रकारकी होती है बालकको स्नान करानेवाली मार्जनधात्री, भूषण पहनानेवाली मंडनधात्री, खिलानेवाली क्रीडाधात्री, दूध पिलानेवाली क्षीरधात्री सुलानेवाली अम्बधात्री, इनके समान कोई साधु गृहस्थके बालकोंका कार्य करने व उपदेश देकर प्रसन्न करके भोजन लेने सो धात्री दोष है। जैसे इस बालकको स्नान कराओ, इस तरह नहलाओगे तो सुखी रहेगा व इसे ऐसे आभूषण पहनाओ, बालकको आप ही खिलाने लगे व क्रीडा करनेका उपदेश दे, बालकको दूध कैसे मिले उसकी विधि बतावे, स्वयं बालकको सुलाने लगे व सुलानेकी विधि बतावे, ऐसा करनेमें साधु गृहस्थके कार्योंमें फंसके स्वाध्याय, ध्यान, वैराग्य व निस्पृहताका नाश करता है।

२ दूत दोष—जो साधु दूत कर्म करके भोजन उपजावे सो दूत दोष है जैसे कोई साधु एक ग्रामसे दूसरे ग्राममें व एक देशसे दूसरे देशमें जल, थल या आकाश द्वारा जाता हो उसको कोई गृहस्थ यह कहे कि मेरा यह सन्देशा अमुक गृहस्थको कह देना वह साधु ऐसा ही करें—सन्देशा कहकर उस गृहस्थको सन्तोषी करके उससे दान लेवे।

३ निमित्त दोष—जो साधु निमित्तज्ञानसे दातारको शुभ या अशुभ बताकर भिक्षा ग्रहण करे सो निमित्त दोष है। निमित्तज्ञान आठ प्रकारका है। १ व्यंजन-शरीरके मस्से तिल आदि देखकर बताना, २ अंग मस्तक गला हाथ पैर देखकर बताना, ३ स्वर-उस प्रश्न कर्ताका या दूसरेका शब्द सुनकर बताना, ४ छेद—खड्ग आदिका प्रहार, व वस्त्रादिका छेद देखकर बताना, ५ भूमि-जमीनको देखकर बताना, ६ अंतरिक्ष आकाशमें सूर्य चन्द्र, नक्षत्रादिके उदय, अस्त आदिसे बताना, ७ लक्षण—उस पुरुषके व अन्यके शरीरके स्वस्तिक चक्र आदि लक्षण देखकर बताना, ८ स्वप्न—उसके व दूसरेके स्वप्नोंके द्वारा बताना।

४ आजीव दोष—अपनी जाति व कुल बताकर, शिल्पकर्मकी चतुराई जानकर, व तपका माहात्म्य बताकर जो आहार ग्रहण किया जाय सो आजीव दोष है।

५ वनीयक दोष—जो पात्र दातारके अनुकूल अयोग्य वचन कहकर भोजन प्राप्त करे सो वनीयक दोष है। जैसे दातारने पूछा कि कृपण, कोढ़ी, मांसभक्षी साधु व ब्राह्मण, दीक्षामें ही आजीविका करनेवाले, कुत्ते, काकको भोजन देनेमें पुण्य है या नहीं

तब उससे उसके मनके अनुकूल कह देना कि पुण्य है और इस निमित्तसे भोजन प्राप्त करना सो दोष है। यदि अपने भोजनकी अपेक्षा न हो और उसको शास्त्रका मार्ग समझा दिया जाय कि इनको दान करनेसे पात्रदान नहीं होसक्ता, मात्र दया दान होसक्ता है। जब ये भूखसे पीड़ित हो और उनको दयाभावसे योग्य भक्ष्य पदार्थ मात्र दिया जाय तब यह दोष न होगा ऐसा भाव झलकता है।

६ चिकित्सा दोष आठ प्रकार वैद्यशास्त्रके द्वारा दातारका उपकार करके जो आहारादि ग्रहण किया जाय सो पात्रके लिये चिकित्सा दोष है-आठ प्रकार चिकित्सा यह है--

१ कौमार चिकित्सा-बालकोंके रोगोंके दूर करनेका शास्त्र।
२ तनु चिकित्सा शरीरके ज्वर कास श्वास दूर करनेका शास्त्र
३ रसायन चिकित्सा--अनेक प्रकार रसोंके बनानेका शास्त्र।
४ विष चिकित्सा--विषको फलकर औषधि बनानेका शास्त्र
५ भूत चिकित्सा--भूत पिशाचको हटानेका शास्त्र।
६ क्षारतंत्र चिकित्सा--फोड़ाफुंसी आदि मटनेका शास्त्र।
७ शालाकिक चिकित्सा--सलाईसे जो इलाज हो जैसे आंखोंका पटल खोलना आदि उसके बनानेका शास्त्र।
८ शल्य चिकित्सा काटा निकालने व हड्डी सुधारनेका शास्त्र

७ क्रोध दोष-दातारपर क्रोध करके भिक्षा लेना।
८ मानदोष-अपना अभिमान बताकर भिक्षा लेना।
९ माया दोष-मायाचारीसे, कपटसे भिक्षा लेना।
१० लोभ दोष-लोभ दिखाकर भिक्षा लेना।

११ पूर्व सस्तुति दोष—दातारके सामने भोजनके पहले स्तुति करे तुम तो महादानी हो, राजा श्रेयांशके समान हो अथवा तुम तो पहले बड़े दानी थे अब क्यों दान करना भूल गए ऐसा कहकर भिक्षा ले।

१२ पश्चात्सस्तुति दोष—दान लेनेके पीछे दातारकी स्तुति करे तुम तो बडे दानी हो, जैसा तुम्हारा यश सुना था वैसे ही तुम हो।

१३ विद्या दोष—जो साधु दातारको विद्या साधन करके किसी कार्यकी आशा दिलाकर व उसको विद्या साधन बताकर उसके माहात्म्यसे आहार दान लेने सो विद्या दोष है वा कहे तुम्हें ऐसीर विद्याए दूंगा यह आशा दिलावे।

१४ मंत्र दोष—मंत्रके पढ़ते ही कार्य सिद्ध होजायगा मैं ऐसा मंत्र दूंगा। इस तरह आशा दिलाकर दातारसे भोजन ग्रहण करे। सो मंत्र दोष है।

ऊपरके १३ व १४ दोषमें यह भी गर्भित है कि जो कोई पात्र दातारोंके लिये विद्या या मंत्रकी साधना करे।

१५ चूर्ण दोष—पात्र दातारकी चक्षुओंके लिये अंजन व शरीरमें तिलकादिके लिये कोई चूर्ण व शरीरकी दीप्ति आदिके लिये कोई मसाला बताकर भोजन करे सो चूर्ण दोष है। यह एक तरहकी आजीविका गृहस्थ समान होजाती है इसमें दोष है।

१६ मूल दोष—कोई वश नहीं है उसके लिये वशीकरणके व कोईका वियोग है उसके संयोग होनेके उपायोंको बताकर जो दातारसे भोजन ग्रहण करे सो मूल दोष है।

अब १० तरह शंकित व अशन दोष कहे जाते हैं।

७ उन्मिश्र दोष–मिट्टी, अप्राशुक जल, हरितकाय पत्र फूल फल आदि, बीज गेहूं जो आदि, त्रस जीव सजीव हो या निर्जीव हो इन पांचोंमेंसे किसीसे मिले हुए आहारको लेलेना सो उन्मिश्र दोष है ।

८ परिणत दोष–जिस पानी या भोजनका वर्ण गंध रस न बदल गया हो जैसे तिलोंके धोवन, चावलके धोवन, चनोंके धोवन, घासके धोवनका जल या तप्त जल ठंडा हो यदि अपने वर्ण रस गंधको न छोड़े हुए हों अथवा अन्य कोई शाक फलादि अप्राशुक हो उसको ले लेना सो अपरिणत दोष है । यदि स्पर्शादि बदल गए हों तो दोष नहीं ।

९ लिप्त दोष–गेरू, हरताल, खड़िया, मैनसिल, कच्चा आटा व तंदुलका आटा, पराल या घास, कच्चा शाक, कच्चा जल, गीला हाथ, गीला बर्तन इनसे लिप्त या स्पर्शित वस्तु दिये जाने पर ले लेना सो लिप्त दोष है ।

१० परिजन दोष–या छोटित दोष, जो पात्र बहुतसा भोजन हाथसे गिराकर थोड़ासा लेवे तथा, दूध आदिको हाथोंके छिद्रोंसे गिरता हुआ भोजन करे, या दातार द्वारा दोनों हाथोंसे गिराते हुए दिये हुए भोजन पानको लेवे व दोनों हाथोंको अलग करके जो खावे व अनिष्ट भोजनको छोड़कर रुचिवान् इष्ट भोजनको लेवे सो परिजन दोष है ऐसे १० प्रकार अशन दोष जानने ।

१ अगार दोष–साधु यदि भोजनको अति लम्पटतासे उसमें मूर्छित होकर ग्रहण करे सो अङ्गार दोष है ।

१ धूम दोष—साधु यदि भोजनको उसको अनिष्ट जान निंदा करता हुआ ग्रहण करे सो धूम दोष है। इन दोनों दोषोंसे परिणाम मल्लेशित होजाते हैं।

१ संयोजन दोष—साधु यदि अपनेसे विरुद्ध भोजनको मिला-कर ग्रहण करे जैसे भात पानीको मिलादे ठंडे भातको गर्म पानीसे मिलावे, रूखे भोजनको चिकनेके साथ या आयुर्वेद शास्त्रसे कहे गए विरुद्ध अन्नको दूधके साथ मिलावे यह संयोजन दोष है।

१ प्रमाण दोष—साधु यदि प्रमाणसे अधिक आहार ग्रहण करे सो प्रमाण दोष है। प्रमाण भोजनका यह है कि दो भाग तो भोजन करे, १ भाग जल लेवे व चौथाई भाग खाली रक्खे। इसको उल्लंघन करके अधिक लेना भी दोष है। ये दोनों दोष रोग पैदा करनेवाले व स्वाध्याय ध्यानादिमें विघ्नकारक हैं।

इस तरह उद्गम दोष १६, उत्पादन दोष १६, अशन दोष १०, अंगार दोष १, धूम दोष १, संयोजन दोष १, प्रमाण दोष १ इस तरह ४६ दोषोंसे रहित भोजन करना सो शुद्ध भोजन है। यद्यपि उद्गम दोष गृहस्थके आश्रय हैं तथापि साधु यदि मालूम करके व गृहस्थ दातारने दोष किये हैं ऐसी शंका करके फिर भोजन ग्रहण करे तो साधु दोषी है।

साधुगण संयम सिद्धिके लिये शरीरको बनाए रखनेके लिये केवल शरीरको भाड़ा देते हैं। साधु छः कारणोंके होनेपर भोजन नहीं जाते (१) तीव्र रोग होनेपर (२) उपसर्ग किसी देव, मनुष्य, पशु या अचेतन कृत होजानेपर (३) ब्रह्मचर्यके निर्मल कर-नेके लिये (४) प्राणियोंकी दयाके लिये यह विचार करके कि यदि

भोजन करूंगा तो बहुत प्राणियोंका घात होगा क्योंकि मार्गमें जंतु बहुत हैं। रक्षा होना कठिन है। वर्षा पड़ रही है। (५) तप सिद्धिके लिये (६) समाधिमरण करते हुए। साधु उसी भोजनको करेंगे जो शुद्ध हो। जैसा मूलाचारमें कहा है---

णवकोडीपरिसुद्ध असणं बादालदोसपरिहीणं ।
संजोजणाय हीणं पमाणसहियं विहिसु दिण्णं ॥ ४८२ ॥
विगदिंगाल विधूम छक्कारणसंजुदं कमविसुद्धं ।
जत्तासाधनमत्तं चोद्दसमलवज्जिदं भुंजे ॥ ४८३ ॥

भावार्थ–जिस भोजनको मुनि लेते हैं वह नवकोटि शुद्ध हो, अर्थात् मन द्वारा कृतकारित अनुमोदना, वचनद्वारा कृतकारित अनुमोदना, कायद्वारा कृतकारित अनुमोदनासे रहित हो, सर्व छयालीस दोष रहित हो तथा विधिसे दिया हुआ हो। श्रावक दाता को नवधा भक्ति करनी चाहिये अर्थात् १ प्रतिग्रह या पड़गाहना आदरसे घरमें लेना, २ उच्चस्थान देना, ३ पाद प्रक्षालन करना, ४ पूजन करना, ५ प्रणाम करना, ६ मन शुद्ध रखना ७ वचन शुद्ध कहना ८ काय शुद्ध रखना, ९ भोजन शुद्ध होना। तथा दातारमें सात गुण होने चाहिये अर्थात् इस १ लोकके फलको न चाहना, २ क्षमा भाव, ३ कपट रहितपना, ४ ईर्षा न करना ५ विषाद न करना, ६ प्रसन्नता ७ अभिमान न करना। छः कारण सहित भोजन करे १ भूख-वेदना शमनके लिये, २, वैयावृत्य करनेके लिये, ३ छः आवश्यक क्रिया पालनेके लिये, ४ इंद्रिय व प्राण संयम पालनेके लिये, ५ दश प्राणोंकी रक्षाके लिये, ६ दश लक्षणी धर्मके अभ्यासके लिये, तथा साधु क्रमकी शुद्धिसे ध्यानमें

१७ पादान्तर जीव सम्पात—यदि साधुके भोजन करते हुए पैरोंके बीचमेंसे पचेंद्रिय जीव निकल जावे तो साधु भोजन तजे ।

१८ भाजन सम्पात—परिवेषक या भोजन देने वालेके हाथमें यदि बर्तन जमीनपर गिर पड़े तो साधु भोजन तजें ।

१९ उच्चार—यदि भोजन करते हुए साधुके उदरसे मल निकल पड़े तो साधु भोजन तजें ।

२० प्रस्रवण—यदि भोजन करते हुए साधुके पिशाब निकल पड़े तो साधु भोजन तजें ।

२१ अभोज्यगृहप्रवेशन—यदि साधु भिक्षाको जाते हुए जिसके यहां भोजन न करना चाहिये ऐसे चाडालादिकोंके घरमें चले जाय तो उस दिन साधु भोजन न करें ।

२२ पतन—यदि साधु भोजन करते हुए मूर्छा आदि आनेसे गिर पड़ें तो भोजन न करें ।

२३ उपवेशन—यदि साधु खड़े२ बैठ जावें तो भोजन तजें ।

२४ सदंश—यदि साधुको (सिद्धभक्तिके पीछे) कुत्ता बिल्ली आदि कोई जंतु काट खावे ।

२५ भूमिस्पर्श—यदि साधु सिद्धभक्तिके पीछे अपने हाथसे भूमिको स्पर्श करलें ।

२६ निष्ठीवन—यदि साधु भोजन करते हुए नाक या थूक फेंके (अपराधभावसहित है कि स्वयं बलात्कर फेंके तो अंतराय, खांसी आदिके वश निकले तो अंतराय नहीं) तो भोजन तजें ।

२७ उदरकृमिनिर्गमन—यदि साधुके भोजनके समय ऊपर या नीचेके द्वारसे पेटसे कोई जन्तु निकल पड़े तो भोजन तजें ।

२८ अदत्तग्रहण–यदि साधु बिना दातारके दिये हुए अपनेसे अनादि ले लेवे तो अन्तराय करे।

२९ प्रहार–यदि भोजन करते हुए साधुको कोई खडग लाठी आदिसे मारे या साधुके निकट कोई किसीको प्रहार करे तो साधु अन्तराय करे।

३०–ग्रामदाह–यदि ग्राममें अग्नि लग जावे तो साधु भोजन न करें।

३१ पादकिंचितग्रहण–यदि साधु पादसे किसी वस्तुको उठा लें तो अन्तराय करें।

३२ करग्रहण यदि साधु हाथसे भूमिपरसे कोई वस्तु उठा लें तो भोजन तजें।

ये ३२ अंतराय प्रसिद्ध हैं इनके सिवाय इनहीके तुल्य और भी कारण मिले तो साधु उस समयसे फिर उस दिन भोजन न करे। जैसे मार्गमें चंडाल आदिसे स्पर्श हो जावे, कहीं उस ग्राममें युद्ध होजावे या कलह घरमें होजाय। जहां भोजनको जावे, मुख्य किसी इष्टका मरण होजावे, किसी प्रधानका मरण होजावे व किसी साधुका समाधिमरण होजावे, कोई राजा मंत्री आदिसे उपद्रवका भय होजावे लोगोंमें अपनी निन्दा होती हो, या भोजनके गृहमें अकस्मात कोई उपद्रव होजावे, भोजनके समय मौन छोड दे–बोल उठे, इत्यादि कारणोंके होनेपर साधुको संयमकी सिद्धिके लिये व वैराग्यभावके दृढ करनेके लिये आहारका त्याग कर देना चाहिये।

साधुको उचित है कि द्रव्य, क्षेत्र, बल, काल, भावको देखकर अपने सामर्थ्यकी [illegible] करें।–इस तरह जो साधु

दोषरहित भोजन करने ह उनहीके एषणासमिति पलती है ।

९ आदाननिक्षेपणसमिति मूलगुण ।

पाणुवहि स जमुवहि सौउवहि अण्णमण्णमुवहि वा ।
पयद गहणिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा ॥ १४ ॥

भावार्थ–श्रुतज्ञानका उपकरण पुस्तकादि, सयमका उपकरण पिच्छिकादि, शौचका उपकरण कमण्डलादि व अन्य कोई सथारे आदि उपकरण इनमेंसे किसीको यदि साधु उठावे या रक्खें तो यत्नसे साथ देखकर व पाछीसे झाडकर उठावें या धरें सो आदान निक्षेपण समिति मूलगुण है ।

१० प्रतिष्ठापनिका समिति मूलगुण ।

एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे ।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी ॥१५॥

भावार्थ –साधु मल या पिसाबको ऐसे स्थानमें त्यागें जो एकात हो, प्राशुक हो, जिसमे हरितकाय व त्रस न हों, ग्रामसे दूर हो, गुप्त हो, जहा किसीकी दृष्टि न पडे, विशाल हो जिसमें बिल आदि न हो, किसीकी जहा मनाइ न हो सो प्रतिष्ठापनिका समिति मूलगुण है ।

११ चक्षुनिरोध मूलगुण ।

सच्चित्ताचित्ताण किरियासंठाणवण्णभेएसु ।
रागादिसगहरण चक्खुणिरोहो हवे मुणिणो ॥ १७ ॥

भावार्थ–स्त्रियों व पुरुषोंके मनोहररूप व अचित्त चित्र मूर्ति आदिके रूप, स्त्री पुरुषोंकी गीत नृत्य वादित्र क्रिया, उनके मिन्न२ आकार व वस्तुओंके वर्ण आदि देखकर उनमें रागद्वेष न करके समताभाव रखना सो चक्षुनिरोध मूलगुण है ।

१२ श्रोत्रेन्द्रियनिरोध मूलगुण ।

सज्जादि जीवसद्दे वीणादिअजीवसंभवे सद्दे ।
रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु ॥ १८ ॥

भावार्थ षड्ज, ऋषभ, गांधार मध्यम, धैवत पञ्चम निषाद ये सात स्वर हैं। इनमें जीव द्वारा प्रगट शब्दोंको व वीणा आदि अजीव बाजोंके शब्दको जो रागादिक भावोंके निमित्त हैं स्वयं न करना, न उनका सुनना सो श्रोत्रेंद्रिय निरोध मूलगुण है। इसमें यह स्पष्ट होजाता है कि मुनि महाराज रागके कारणभूत गाने बजानेको न करते न सुनते हैं।

१३ घ्राणेन्द्रिय निरोध मूलगुण ।

पयडीवासणगंधे जीवाजीवप्पगे सुहे असुहे ।
रागद्देसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स ॥ १९ ॥

भावार्थ--जीव या अजीव सम्बन्धी पदार्थोंके स्वाभाविक व अन्य द्वारा वासनारूप शुभ अशुभ गंधमें रागद्वेष न करना सो घ्राण निरोध मूलगुण मुनिवरोंका है। मुनि महाराज कस्तूरी, चंदन पुष्पमें राग व मूत्र पुरीषादिमें द्वेष नहीं करते, समभाव रखते हैं।

१४ रसनेन्द्रियनिरोध मूलगुण ।

असणादिचदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिरवज्जे ।
इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओऽगिद्धी ॥ २० ॥

चार प्रकार भोजनमें अर्थात् भात, दूध, लाडू इलायची आदिमें व तीखा, कडुवा, कषायला, खट्टा मीठा पांच रसों कर सहित प्रासुक निर्दोष भोजन पानमें इष्ट अनिष्ट आहारके होनेपर अति लोलुपता या द्वेष न करना, समभाव रखना सो जिह्वाको जीतना मूलगुण है।

१५ स्पर्शेन्द्रिय निरोध मूलगुण ।

जीवाजीवसमुत्थे कक्कडमउगादि अट्ठभेदजुदे ।
फासे सुहेय असुहे फासणिरोहो असंमोहो ॥ २१ ॥

भावार्थ–जीव या अजीव सम्बन्धी कर्कश मृदु शीत, उष्ण रूखे, चिकने, हल्के या भारी आठ भेद रूप शुभ या अशुभ स्पर्शके होनेपर उनमें इच्छा न करके रागद्वेष जीतना सो स्पर्शेन्द्रिय निरोध मूलगुण है।

१६ सामायिक आवश्यक मूलगुण ।

जीविदमरणे लाहालाभे संजोयविप्पओगे य ।
बंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामायियं णाम ॥ २३ ॥

भावार्थ–जीवन मरण, लाभ हानि, संयोग वियोग मित्र शत्रु सुख दुःख आदि अवस्थाओंमें समता रखनी सो सामायिक आवश्यक मूलगुण है।

१७ चतुर्विंशति स्तव मूलगुण ।

उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च ।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धपणमो थओ णेओ ॥ २४ ॥

भावार्थ ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरोंका नाम लेना, उनका गुणानुवाद गाना, उनको मन वचन काय शुद्ध करके प्रणाम करना व उनकी भाव पूजा करनी सो चतुर्विंशतिस्तव मूलगुण है।

१८ वन्दना आवश्यक मूलगुण ।

अरहंतसिद्धपडिमातवसुदगुणगुरुगुरूण रादीणं ।
किदिकम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो ॥ २५ ॥

भावार्थ–अरहंत और सिद्धोंकी प्रतिमाओंको, तपस्वी गुरुओंको, गुणोंमें श्रेष्ठोंको, दीक्षा गुरुओंको व अपनेसे बड़े दीक्षाकाले

तीर्थंकरोंकी कृतिकर्म करके अर्थात सिद्ध भक्ति, श्रुतभक्ति, गुरुभक्ति पूर्वक अथवा मात्र सिर झुकाकर ही मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक जो प्रणाम करना सो वन्दना आवश्यक मूलगुण है।

१९ प्रतिक्रमण आवश्यक मूलगुण।

दव्वे खेत्ते काले भावे य किदावराहसोहणय।
णिंदणगहरणजुत्तो मणवचकायेण पडिकमण॥

भावार्थ--आहार शरीरादि द्रव्यके सम्बन्धमें वस्तिका शयन आसन गमनादि क्षेत्रके सम्बन्धमें, पूर्वाह्न अपराह्न रात्रि पक्ष मास आदि कालके सम्बन्धमें व मन सम्बन्धी भावोंके सम्बन्धमें जो कोई अपराध होगया हो उसकी अपनी स्वय निंदा करके व आचार्यादिके पास आलोचना करके अपने मन वचन कायसे पछताया करके दोषका दूर करना सो प्रतिक्रमण मूलगुण है।

२० प्रत्याख्यान आवश्यक मूलगुण।

णामादीण छण्ण अजोग्गपरिवज्जणं तिकरणेण।
पच्चक्खाणं णेय अणागय चागमे काले॥ २८॥

भावार्थ--मन वचन काय शुद्ध करके अयोग्य नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल भावोंको नहीं सेवन करूँ, न कराऊँगा, न अनुमोदना करूंगा। इस तरह आगामी कालमें होनेवाले दोषोंका वर्तमानमें व आगामीके लिये त्यागना सो प्रत्याख्यान मूलगुण है।

२१ कायोत्सर्ग आवश्यक मूलगुण।

देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि।
जिणगुणचिंतणजुत्तो काओसग्गो तणुविसग्गो॥ २८॥

भावार्थ--दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक व सांवत्सरिक आदि नियमोंमें शास्त्रमें कहे हुए काल प्रमाण २५ श्वास, २७

श्वास या १०८ श्वास तक शरीरका ममत्व त्याग जिनेन्द्रके गुणोंका चिन्तवन करना सो कायोत्सर्ग आवश्यक मूलगुण है।

२२ लोच मूलगुण ।

वियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो ।
सपडिक्कमणे दिवसे उपवासेणेव कायव्वो ॥ २६ ॥

भावार्थ-दूसरे, तीसरे, चौथे मासमें उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य रूपसे प्रतिक्रमण सहित व उस दिन उपवास सहित मस्तक डाढी मूछके केशोंका हाथोंसे उपाड डालना सो लोच मूलगुण है।

२३ अचेलकत्व मूलगुण ।

वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरण ।
णिब्भूसण णिग्गथ अच्चेलक्क जगदि पूज्ज ॥ ३० ॥

भावार्थ-वस्त्र, चर्म मृगछाला, वक्कल व पत्तो आदिसे अपने शरीरको नहीं ढकना आभूषण नहीं पहनना, सर्व परिग्रहसे रहित रहना सो जगतमें पूज्य अचेलकपना या नग्नपना मूलगुण है।

२४ अस्नान मूलगुण ।

ण्हाणादिवज्जणेण य विलित्तजल्लमल्लसेदसव्वग ।
अण्हाण घोरगुण स जमदुगपालय मुणिणो ॥ ३१ ॥

भावार्थ-स्नान शृंगार, उबटन आदिको छोड़कर सर्व अंगमें मल हो व एक देशमें मल हो व पसीना निकले इसकी परवाह न करके जीवरक्षाके हेतुसे व उदासीन वैराग्यभावके कारणसे स्नान न करना सो इंद्रिय व प्राण संयमको पालनेवाला अस्नान मूलगुण है। मुनियोंके स्नान न करनेसे अशुचिपना नहीं होता है क्योंकि उनकी पवित्रता व्रतोंके पालनेसे हो रहती है।

२५ क्षितिशयन मूलगुण।

फासुयभूमिपएसे अप्पमसथारिदम्हि पच्छण्णे।
दण्डधणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण ॥ ३२ ॥

भावार्थः-प्राशुक भूमिके प्रदेशमें बिना संथारेके व अपने शरीर प्रमाण संथारेमें स्त्री पशु नपुंसक रहित गुप्त स्थानमें धनुषके समान व लकड़ीके समान एक पसवाड़ेसे सोना सो क्षितिशयन मूलगुण है। अधोमुख या ऊपरको मुख करके नहीं सोना चाहिये, संथारा तृणमई, काष्टमई, शिलामई या भूमिमात्र हो तथा उसमें गृहस्थ योग्य बिछौना ओढना आदि न हो। इंद्रिय सुखके छोड़ने व तपकी भावनाके लिये व शरीरके ममत्व त्यागके लिये ऐसा करना योग्य है।

२६ अदन्तमन मूलगुण।

अंगुलिणहावलेहणिकलीहिं पासाणछल्लियादीहिं।
दंतमलासोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं ॥ ३३ ॥

भावार्थ—अंगुली, नाखून, अवलेखनी (जिससे दांतोंका मैल निकालते हैं अर्थात् दतौन तृणादि पाषाण, छाल आदिकोंसे जो दांतोंके मलोंको नहीं साफ करना संयम तथा गुप्तिके लिये सो अदंतमण मूलगुण है। साधुओंके दांतोंकी शोभाका बिल्कुल भाव नहीं होता है इससे गृहस्थोंके समान किसी वस्तुसे दांतोंके मलमल कर उजालते नहीं। भोजनके पीछे मुंह व दांत अवश्य धोते हैं जिससे कोई अन्न मुंहमें न रह जाय, इसी क्रियासे ही उनके दांत आदि ठीक रहते हैं। उनको एक दफेके सिवाय भोजनपान नहीं है इससे इनको दतौनकी जरूरत ही नहीं पड़ती है।

२७-स्थिति भोजन।

अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डादिविवज्जणेण समपायं।
पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम॥ ३४॥

भावार्थ—अपने हाथोंको ही पात्र बनाकर, खडे होकर भीत आदिका सहारा न लेकर, चार अंगुल अन्तरसे दोनों पगोंको रखकर जीवबधादि दोष रहित तीन भूमियोंको देखकर—अर्थात् जहां आप भोजन करने खड़ा हो जहां भोजनादि गिरे व जहां दातार खड़ा हो—जो भोजन करना सो स्थिति भोजन मूलगुण है। भोजन सम्बन्धी जो अंतराय कहे हैं उनमें प्राय अधिकांश सिद्धभक्ति करनेके पीछे माने जाते हैं। भोजनका काल तीन मुहूर्त है। उसमें सिद्धभक्ति करके। इसमें सिद्धभक्ति करनेके पीछे अन्य स्थानमें जासके हैं। जब जब भोजन लेवे तब खडे खडे पांवोंमें ही लेवे जिससे यदि अंतराय हो तो अधिक नष्ट न हो तथा खडे भोजन करनेमें संयमके पालनेमें विशेष ध्यान रहता है प्रमाद नहीं आता।

२८-एक भक्त मूलगुण।

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिये वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु॥ ३५॥

भावार्थ—सूर्योदय तथा अस्तके कालमें तीन घडी अर्थात् १ घंटा १२ मिनट छोड़कर शेष मध्यके कालमें एक, दो या तीन मुहूर्त भीतर भोजनपान करलेना सो एक भक्त मूलगुण है।

इन ऊपर कहे हुए २८ मूलगुणोंका अभ्यास करता हुआ साधु यदि कदाचित् किसी मूलगुणमें कुछ दोष लगा लेता है तो

उसका प्रायश्चित लेकर अपनी शुद्धि करके फिर मूलगुणोंके यथार्थ पालनमें सावधान होजाता है ऐसे साधुको छेदोपस्थापक कहते हैं।

वृत्तिकार श्री जयसेनआचार्यने ऐसा भाव झलकाया है कि निश्चय आत्मस्वरूपमें रमणरूप सामायिक ही निश्चय मूलगुण है, जब आत्मसमाधिसे च्युत हो जाता है तब वह इस २८ विकल्प रूप या भेदरूप चारित्रको पालता है जिसको पालते हुए निर्विकल्प समाधिमें पहुंचनेका उद्योग रहता है। निश्चय सामायिकका लाभ शुद्ध सुवर्ण द्रव्यके लाभके समान है। व्यवहार मूलगुणोंमें वर्तना अशुद्ध सुवर्णकी कुण्डलादि अनेक पर्यायोंके लाभके समान है। प्रयोजन यह है कि निश्चय चारित्र ही मोक्षका बीज है। यही साधुका भावलिंग है, अतएव जो अभेद रत्नत्रयमई स्वानुभवमें रमण करते हुए निजानंदका भोग करते हैं वे ही यथार्थ साधु हैं।

इस तरह मूल और उत्तर गुणोंको कहते हुए दूसरे स्थलमें दो सूत्र पूर्ण हुए ॥ ९ ॥

उत्थानिका—अब यह दिखलाते हैं कि इस तप ग्रहण करनेवाले साधुके लिये जैसे दीक्षादायक आचार्य या साधु होते हैं वैसे अन्य निर्यापक नामके गुरु भी होते हैं।

> लिंगग्गहणे तेसिं गुरुत्ति पव्वज्जदायगो होदि।
> छेदेसूवट्ठगा सेसा णिज्जावया समणा ॥ १० ॥

> लिंगग्रहणे तेषां गुरुरिति प्रव्रज्यादायको भवति।
> छेदयोरुपस्थापकाः शेषा निर्यापकाः श्रमणाः ॥ १० ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः—(लिंगग्गहणे) मुनिभेषके

करने समय (णिर्सि गुरु) उन साधुओंका जो गुरु होता है (इति) वह (पव्वज्जदायगो) दीक्षागुरु (होदि) होता है। (छेदेसूवट्ठगा) एक देश व्रतभंग या सर्वदेश व्रत भंग होनेपर जो फिर व्रतमें स्थापित करनेवाले होते हैं (सेसा) वे सब शेष (णिज्जावया समणा) निर्यापक श्रमण या शिक्षागुरु होते हैं।

विशेषार्थ—निर्विकल्प समाधिरूप परम सामायिकरूप दीक्षाके जो दाता होते हैं उनको दीक्षा गुरु कहते हैं तथा छेद दो प्रकारका है। जहां निर्विकल्प समाधिरूप सामायिकका एक देश भङ्ग होता है उसको एक देश छेद व जहां सर्वथा भङ्ग होता है उसको सर्व देश छेद कहते हैं। इन दोनों प्रकार छेदोंके होनेपर जो साधु प्रायश्चित देकर संवेग वैराग्यको पैदा करनेवाले परमागमके वचनोंसे उन छेदोंका निवारण करते हैं वे निर्यापक या शिक्षागुरु या श्रुतगुरु कहे जाते हैं। दीक्षा देनेवालेको ही गुरु कहेंगे यह अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह भाव झलकाया है कि दीक्षादाता गुरुके सिवाय शिष्योंकी रक्षा करनेवाले निर्यापक या शिक्षागुरु भी होते हैं। जिनके पास शिष्य अपने दोषोंके निवारणकी शिक्षा लेता रहता है और अपने दोषोंको निकालता रहता है। वास्तवमें निर्मल चारित्र ही अन्तरङ्ग भावोंकी शुद्धिका कारण है, अतएव अपने भावोंमें कोई भी विकार होनेपर साधु उसकी शुद्धि करते हैं जिससे सामायिकका लाभ यथायोग्य होवे। स्वात्मानन्दके प्रेमीको कोई अभिमान भय, ग्लानि नहीं होती, वह बालकके समान अपने दोषोंको आचार्यसे कहकर उनके दिये हुए

दरके बड़े आनन्दसे लेकर अपने भावोंकी निर्मलता करते हैं।
तात्पर्य यह है कि साधुको अपने अंतरंग बहिरंग चारित्रकी शुद्धि-
पर सदा ध्यान रखना योग्य है। जैसा मूलाचारमें अनगार भावना
अधिकारमें कहा है —

उवधिभरविप्पमुक्का वोसट्टंगा णिरंबरा धीरा ।
णिक्किंचण परिसुद्धा साधू सिद्धिवि मग्गंति ॥ ३० ॥

भावार्थ-जो परिग्रहके भारसे रहित होते हैं, शरीरकी मम-
ताके त्यागी होते हैं, वस्त्र रहित, धीर और निर्लोभी होते हैं
तथा मन वचन कायसे शुद्ध आचरण पालनेवाले होते हैं वे ही साधु
अपनी आत्माकी सिद्धि अर्थात् कर्मोंके क्षयको सदा चाहते हैं॥१०

उत्थानिका-आगे पूर्व सूत्रमें कहे हुए दो प्रकार छेदके लिये
प्रायश्चित्तका विधान क्या है सो कहते हैं?

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्मि ।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥११॥
छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्मि ।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ॥१२॥ युगलं

प्रयतायां समारब्धायां छेदः श्रमणस्य कायचेष्टायाम् ।
जायते यदि तस्य पुनरालोचनापूर्विका क्रिया ॥ ११ ॥
छेदोपयुक्तः श्रमणः श्रमणं व्यवहारिणं जिनमते ।
आसाद्यालोच्योपदिष्टं तेन कर्तव्यम् ॥ १२ ॥ (युग्मम्)

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पयदम्हि समारद्धे) चारित्रका
प्रयत्न प्रारम्भ किये जानेपर (जादि) यदि (समणस्स) साधुकी

(कायचेट्ठम्मि) कायकी चेष्टामें (छेदो) छेद या भंग (जायदि) हो जावे (पुणो तस्स) तो फिर उस साधुकी (आलोयणपुव्विया किरिया) आलोचनपूर्वक क्रिया ही प्रायश्चित्त है। (छेदुवजुत्तो समणो) भंग या छेद सहित साधु (जिणमदम्मि) जिनमतमें (विवहारिणि) व्यवहारके ज्ञाता (समण) साधुको (आसेज्ज) प्राप्त होकर (आलोचित्ता) आलोचना करनेपर (तेण उवदिट्ठ) उस साधुके द्वारा जो शिक्षा मिले सो उसे (कायव्व) करना चाहिये।

विशेषार्थ-यदि साधुके आत्मामें स्थितिरूप सामायिकके प्रयत्नको करते हुए भोजन, शयन, चलने, खडे होने, बैठने आदि शरीरकी क्रियाओंमें कोई दोष होजावे, उस समय उस साधुके साम्य-भावके बाहरी सहकारी कारणरूप प्रतिक्रमण है लक्षण जिसका ऐसी आलोचना पूर्वक क्रिया ही प्रायश्चित अर्थात् दोषकी शुद्धिका उपाय है अधिक नहीं क्योंकि वह साधु भीतरमें स्वस्थ आत्मीक भावसे चलायमान नहीं हुआ है। पहली गाथाका भाव यह है। तथा यदि साधु निर्विकार स्वसंवेदनकी भावनासे च्युत होजावे अर्थात् उसके सर्वथा स्वस्थभाव न रहे। ऐसे भङ्गके होनेपर वह साधु उस आचार्य या निर्यापकके पास जायगा जो जिनमतमें वर्णित व्यवहार क्रियाओंके प्रायश्चित्तादि शास्त्रोंके ज्ञाता होंगे और उनके सामने कपट रहित होकर अपना दोष निवेदन करेगा। तब वह प्रायश्चित्तका ज्ञाता आचार्य उस साधुके भीतर जिस तरह निर्विकार स्वसंवेदनकी भावना होजावे उसके अनुकूल प्रायश्चित या दंड बता-वेगा। जो कुछ उपदश मिले उसके अनुकूल साधुको करना योग्य है।

भावार्थ—यहां दो गाथाओंमें आचार्यने साधुके दोषोंको शुद्ध करनेका उपाय बताया है। यदि साधु अन्तरङ्ग चारित्रमें सावधान है और सावधानी रखते हुए भी अपनी भावनाके बिना भी किसी कारणसे बाहरी शयन, आसन आदि शरीरकी क्रियाओंमें शास्त्रोक्त विधिमें कुछ त्रुटि होनेपर संयममें दोष लग जावे तो मात्र बहिरङ्ग भङ्ग हुआ। अंतरङ्ग नहीं। ऐसी दशामें साधु स्वयं ही प्रतिक्रमण रूप आलोचना करके अपने दोषोंकी शुद्धि करले, परन्तु यदि साधुके अन्तरङ्गमें उपयोग पूर्वक संयमका भंग हुआ हो तो उसको उचित है कि प्रायश्चित्तके ज्ञाता आचार्यके पास जाकर जैसे बालक अपने दोषोंको बिना किसी कपटभावके सरल रीतिसे अपनी माताको व अपने पिताको कह देता है इसी तरह आचार्य महाराजसे कह देवे। तब आचार्य विचार कर जो कुछ उस दोषकी निवृत्तिका उपाय बतावें उसको बड़ी भक्तिसे उसे अंगीकार करना चाहिये। यह सब छेदोपस्थापन चारित्र है।

प्रायश्चित्तके सम्बन्धमें पं० आशाधरकृत अनगारधर्मामृतमें इस तरह कथन है —

यत्कृत्याकरणे वर्ज्यावर्जने च रजोऽर्जितम्।
सोऽतिचारोऽत्र तच्छुद्धिः प्रायश्चित्तं दशात्म तत्॥३४॥ अ० ७

भावार्थ—जो पाप करने योग्य कार्यके न करनेसे व न करने योग्य कार्यको न छोड़नेसे उत्पन्न होता हो उसको अतिचार कहते हैं उस अतिचारकी शुद्धि कर लेना सो प्रायश्चित्त है। उसके दश भेद हैं। श्री मूलाचार पञ्चाचार अधिकारमें भी दश भेद कहे हैं। जब कि श्री उमास्वामीकृत तत्वार्थसूत्रमें केवल ९ भेद ही कहे हैं।

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेक व्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोप स्थापना ॥ २२/८ ॥

यद्यपि इस सूत्रमें श्रद्धान नामका भेद नहीं है। तथापि उपस्थापनामें गर्भित है। इन १० का भाव यह है—

१ आलोचना—जो आचार्यके पास जाकर विनय सहित दश दोष रहित अपना अपराध निवेदन कर देना सो आलोचना है। साधु प्रातःकाल या तीसरे पहर आचार्यके पास अपना दोष कहे। व दश दोष इस प्रकार हैं—

१ आकम्पित दोष—बहुत दंडके भयसे कांपता हुआ गुरुको कमंडल पुस्तकादि देकर अनुकूल वर्तन करे कि इससे गुरु प्रसन्न होकर अल्प दंड देवें सो आकम्पित दोष है।

२ अनुमापित दोष—गुरुके सामने अपना दोष कहने हुए अपनी अशक्ति भी प्रगट करना कि मैं महा असमर्थ हूं धन्य हैं व वीर पुरुष जो तप करते है, इस भावसे कि गुरु कम दंड देवें सो अनुमापित दोष है।

दृष्ट दोष जिस दोषको दूसरेने देख लिया हो उसको तो गुरुसे कहे परन्तु जो किसीने देखा न हो उसको छिपा ले सो यदृष्ट दोष है।

४ बादरदोष—गुरुके सामने अपने मोटे २ दोषोंको कह देना किंतु सूक्ष्म दोषोंको छिपा लेना सो बादर दोष है।

५ सूक्ष्मदोष—गुरुके सामने अपने सूक्ष्म दोष प्रगट कर देना परन्तु स्थूल दोषोंको छिपा लेना सो सूक्ष्मदोष है।

६ छन्नदोष—गुरुके सामने अपना दोष न कहे किंतु उनसे

इस तरह पूछ ले कि यदि कोई ऐसा दोष करे तो उसके लिये क्या प्रायश्चित्त होना चाहिये ऐसा कहकर व उत्तर मालूमकर उसी प्रमाण अपने दोषको दूर करनेके लिये प्रायश्चित्त करे सो छन्न दोष है। इसमें साधुके मानकी तीव्रता झलकती है।

७ शब्दाकुलदोष—जब बहुत जनोंका कोलाहाल होरहा है तब गुरुके सामने अपना अतीचार कहना सो शब्दाकुल दोष है। इसमें भी शिष्यका अधिक दंड लेनेका भय झलकता है, क्योंकि कोल्हाहलके समय साधुका भाव सभव है आचार्यके ध्यानमें अच्छी तरह न आवे।

८ बहुजनदोष-जो एक दफे प्रायश्चित्त गुरुने किसीको दिया हो उसीको दूसरे अपने दोष दूर करनेके लिये लेलेवे। गुरुसे अलग २ अपना दोष न कहे सो बहुजन दोष है।

९ अव्यक्तदोष—जो कोई सयम या ज्ञानहीन गुरुसे प्राय श्चित्त लेलेना सो अव्यक्त दोष है।

१० तत्सेवित—जो कोई दोष सहित होकर दोष सहित पार्श्वस्थ साधुसे प्रायश्चित्त लेना सो तत्सेवित दोष है।

इन दोषोंको दूर करके सरल चित्तसे अपना दोष गुरुसे कहना सो आलोचना नाम प्रायश्चित्त है। बहुतसे दोष मात्र गुरुसे कहने मात्रसे शुद्ध हो जाते हैं।

२ प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त-मिथ्या मे दुष्कृतम्—मेरा पाप मिथ्या होउ, ऐसा वचन वारवार कहकर अपने अल्पपापकी शुद्धि कर लेना सो प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। इसमें गुरुको कहनेकी जरूरत नहीं है। जैसा इस प्रवचन शास्त्रकी ११वीं गाथामें कहा है।

सयम विराधनाके भाव विना कायचेष्टामे कुछ दोष लग जाना सो प्रतिक्रमण भावसे शुद्ध होता है। प्रतिक्रमण सात प्रकार है—

१ दैवसिक–जो दिनमें भए अतीचारको शोधना।
२ रात्रिक–जो रात्रिमे भए अतीचारको शोधना।
३ ऐर्यापथिक–इर्यापथ चलनेमें जो दोष होगया हो उसको शोधना।
४ पाक्षिक–जो पन्द्रह दिनके दोषोंको शुद्ध करना।
५ चातुर्मासिक–जो कार्तिकके अतमें और फाल्गुणके अतमें करना, चार चार मासके दोषोंको दूर करना।
६ सावत्सरिक–जो एक वर्ष वीतनेपर आषाढके अतमें करना १ वर्षके दोषोंको शोधना।
७ उत्तमार्थ–जन्मपर्यंत चार प्रकार आहारका त्याग करके सर्व जन्मके दोषोंको शोधना।

इस तरह सात अवसरोंपर प्रतिक्रमण किया जाता है। वैठने, शौच करने, गोचरी करने, मलमूत्र करने आदिक समयके प्रतिक्रमण यथासभव इनहीमे गर्भित समझ लेना चाहिये।

३ प्रायश्चित्त तदुभय–दुष्टस्वप्न सक्लेशभावरूपी दोषके दूर करनेके लिये आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करने चाहिये सो तदुभय प्रायश्चित्त है।

४ विवेक–किसी अन्न आदि पदार्थमे आसक्ति हो जानेपर उस दोषके मेटनेके लिये उस अन्नपान स्थान उपकरणका त्याग कर देना सो विवेक है।

५ व्युत्सर्ग–मल मूत्र त्याग, दु स्वप्न, दुश्चिन्ता, सूत्र सबधी

अतीचार, नदी तरण, महावन गमन आदि कार्योंमें जो शरीरका ममत्व त्यागकर अन्तर्महूर्त्त, दिवस, पक्ष, मास आदि काल तक ध्यानमें खडे रहना सो कायोसर्ग या व्युत्सर्ग है। (नौ णामोकार मंत्रको सत्ताईस श्वासोच्छ्वासमें जपना ध्यान रखते हुए सो एक कायोत्सर्ग प्रसिद्ध है। प्रायश्चित्तमें यह भी होता है कि इतने ऐसे कायोत्सर्ग करो) अनगार धर्मामृतमें अ० ८ में है —

सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः संसारोन्मूलनक्षमे ।
सन्ति पंचनमस्कारे नवधा चिन्तिते सति ॥

भावार्थ-९ दफे संसारछेदक णमोकारमन्त्रको पढनेमें २७ श्वासोश्वास लगाना चाहिये। इसी श्लोकके पूर्व है कि एक उछ्वासमें णमो अरहंताण, णमो सिद्धाण पढे, दूसरेमें णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण पढे, तीसरेमें णमो लोए सव्वसाहूण पढे। कितने उछ्वासोंका कायोत्सर्ग कबकब करना चाहिये उसका प्रमाण इस तरह है। दैवसिक प्रतिक्रमणके समय १०८ उछ्वास, रात्रिकमें ५४, पाक्षिकमें तीन सौ ३००, चातुर्मासिकमें ४००, सांवत्सरिकमें ५०० जानने। २५ पचीस उछ्वास कायोत्सर्ग नीचेके कार्योंके समय करे मूत्र करके, पुरीष करके, ग्रामान्तर जाकर, भोजन करके, तीर्थंकरकी पंचकल्याणक भूमि व साधुकी निषिद्धिकाकी वन्दना करनेमें। तथा २७ सत्ताईस उछ्वास कायोत्सर्ग करे, शास्त्र स्वाध्याय प्रारम्भमें व उसकी समाप्तिमें तथा नित्य वन्दनाके समय तथा मनके विकार होनेपर उसकी शांतिके लिये। यदि मनमें जन्तुघात, असत्य, अदत्त ग्रहण, मैथुन व परिग्रहका विकार हो तो १०८ उछ्वास कायोत्सर्ग है

५ तप-जो दोषकी शुद्धिके लिये उपवास, रसत्याग आदि तप किया जाय सो तप प्रायश्चित्त है।

६ छेद-बहुतकालके दीक्षित साधुका दीक्षाकाल पक्ष, मास वर्ष दोवर्ष घटा देना सो छेद प्रायश्चित्त है। इससे साधु अपनसे नीचेवालोंमे भी नीचा होजाता है।

७ मूल-पार्श्वस्थादि साधुओंको जो बहुत अपराध करते हैं उनकी दीक्षा छेदकर फिरसे मुनि दीक्षा देना सो मूल प्रायश्चित्त है। जो साधु स्थान, उपकरण आदिमें आसक्त होकर उपकरण करते, सो पार्श्वस्थ साधु है।

जो वैद्यक, मंत्र, ज्योतिष व राजाकी सेवा करके समय गमा कर भोजन प्राप्त करे सो संसक्त साधु है। जो आचार्यके कुलको छोड़कर एकाकी स्वच्छन्द विहारी, जिन वचनको दूषित करता हुआ फिरे सो मृगचारी साधु है। जो जिन वचनको न जानकर ज्ञान चारित्रसे भ्रष्ट चारित्रमें आलसी हो सो अवसन्न साधु है। जो क्रोधादि कषायोंसे कलुषित हो व्रतशील गुणसे रहित हो, संघका अविनय करनेवाला हो सो कुशील साधु है। इन पांच प्रकारके साधुओंकी शुद्धि फिरसे दीक्षा लेनेपर होती है।

परिहार-विधि सहित अपने संघसे कुछ कालके लिये दूर कर देना सो परिहार प्रायश्चित्त है। ये तीन प्रकार होता है-(१) गणप्रतिबद्ध या निजगणानुपस्थान-जो कोई साधु किसी शिष्यको किसी संघसे बहकाकर, शास्त्र चोरी करे व मुनिको मारे आदि पाप करे तो उसको कुछ कालके लिये अपने ही संघमें रखकर यह आज्ञा देना कि वह संघसे ३२ बत्तीस दंड (हाथ) दूर रहकर बैठे चले,

पीछीको आगे करके आप सर्व बाल वृद्ध मुनियोंको नमस्कार करे, परन्तु बदलेमें कोई मुनि उसको नमन न करें पीछीको उल्टी रक्खे मौनव्रतसे रहे, जघन्य पांच पांच दिन तथा उत्कृष्ट छ छ मासका उपवास करे। ऐसा परिहार बारह वर्ष तकके लिये हो सक्ता है।

यदि वही मुनि मानादि कषाय वश फिर वैसा अपराध करे तो उसको आचार्य दूसरे सघमें भेज, वहां अपनी आलोचना करे वे फिर तीसरे सघमें भेजें। इसतरह सात सघके आचार्योंके पास वह अपना दोष कहे तब वह सातमा आचार्य फिर जिसने शुरूमें भेजा था उसके पास भेज दे। तब वही आचार्य जो प्रायश्चित दे सो ग्रहण करे। यह सहपरगणअनुपस्थापन नामका भेद है।

फिर वही मुनि यदि और भी बड़े दोषोंसे दूषित हो तब चार प्रकार सघके सामने उसको कहे यह महापापी, आगम बाहर है, वन्दनेयोग्य नहीं, तब उसे प्रायश्चित्त देकर देशसे निकाल दें वह अन्य क्षेत्रमें आचार्यद्वारा दिये हुए प्रायश्चित्तकी आचरण करे। (नोट–इसमें भी कुछ कालका नियम होता है, क्योंकि परिहारकी विधि यही है कि कुछ कालके लिये ही वह साधु त्यागा जाता है।) जैसा श्री तत्वार्थसारमें अमृतचन्द्रस्वामी लिखते हैं–

"परिहारस्तु मासादिविभागेन विवर्जनम् ॥ २६-७"

१० श्रद्धान–जो साधु श्रद्धानभ्रष्ट होकर अन्यमती हो गया हो उसका श्रद्धान ठीक करके फिर दीक्षा देना सो श्रद्धान प्रायश्चित्त है। अनगार धर्मामृत सातवें अध्यायके ५३ वें श्लोककी व्याख्यामें कथन है कि जो कोइ आचार्यको बिना पुछे आता-

पनादि योग करे, उनकी पुस्तक पीछी आदि उपकरण बिना पूछे लेलेवे, प्रमादसे आचार्यके वचनको न पाले, सघनाथको बिना पूछे सघनाथके प्रयोजनमे जाय आवे, परसघसे बिना पूछे अपने सघमें आवे, देशकालके नियमसे अवश्य कर्तव्य व्रत विशेषको धर्मकथादिमें लगकर भूल जावे, तथा फिर याद आनेपर करे तो मात्र गुरुसे विनयसे कहनेरूप आलोचना ही प्रायश्चित है। पाच इंद्रिय व मन सम्बन्धी कुभाव होनेपर, आचार्यादिके हाथ पग आदि मर्दनमें व्रत समिति गुप्तिमें अल्प आचार करनेपर, चुगली व कलह आदि करनेपर, वैयावृत्य स्वाध्यायादिमे प्रमाद करनेपर, गोचरीको जाते हुए स्पर्श लिंगके विकारी होनेपर आदि अन्य सक्लेश कारणोपर दैवसिक व रात्रिक व भोजन गमनादिमें स्वय प्रतिक्रमण करना ही प्रायश्चित्त है।

लोच, नख छेद स्वप्नदोष, इंद्रियदोष व रात्रि भोजन सम्बन्धी कोई सूक्ष्म दोष होनेपर प्रतिक्रमण और आलोचना दोनों प्रायश्चित होते हैं। मासादि बिना आलोचना करने, उदरसे कृमि निकलने, सर्दी दशमशक आदि महावायुके सघर्ष सम्बन्धी दोष होने, चिकना जमीन हरेतृणकी चटपर चलने जघामात्र जलम प्रवेश होने, अन्यके निमित्तकी वस्तुको अपने उपयोगमें करने, नदी पार करने, पुस्तक व प्रतिमाके गिर जाने, पाच स्थावरोका घात होने, बिना देखे स्थानम शरीर मल छोडने आदि दोषोंमे अथवा पक्ष मास आदि प्रतिक्रमणके अतकी क्रियामें व व्याख्यान देनेके अतमें कायोत्सर्ग करना ही प्रायश्चित्त है। मूत्र व मल छोडनेपर भी कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त है।

जैसे वैद्य रोगीकी शक्ति आदि देखकर उसका रोग जिस तरह मिटे वैसी उसके अनुकूल औषधि देता है वैसे आचार्य शिष्यका अपराध व उसकी शक्ति, देश, काल आदि देखकर जिससे उसका अपराध शुद्ध हो जावे ऐसा प्रायश्चित्त देते हैं।

जबतक निर्विकल्प समाधिमें पहुच नहीं हुई अर्थात् शुद्धोपयोगी हो श्रेणीपर आरूढ नहीं हुआ तबतक सविकल्प ध्यान होने व आहार विहारादि क्रियाओंके होनेपर यह बिलकुल असंभव है मन, वचन, काय सम्बन्धी दोष ही न लगें। जो साधु अपने लगे दोषोंको ध्यानमें लेता हुआ उनके लिये आलोचना प्रतिक्रमण करके प्रायश्चित्त लेता रहता है उसके दोषोंकी मात्रा दिन पर दिन घटती जाती है। इसी क्रमसे वह निर्दोषताकी सीढीपर चढकर निर्मल सामायिकभावमें स्थिर होजाता है।

इस तरह गुरुकी अवस्थाको कहते हुए प्रथम गाथा तथा प्रायश्चित्तको कहते हुए दो गाथाएं इस तरह समुदायसे तीसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं॥ १२॥

उत्थानिका—आगे निर्विकार मुनिपनेके भङ्गके उत्पन्न करनेवाले निमित्त कारणरूप परद्रव्यके सम्बन्धोंका निषेध करते हैं—

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबन्धाणि॥१३॥
अधिवासे वा विवासे छेदविहीनो भूत्वा श्रामण्ये।
श्रमणो विहरतु नित्यं परिहरमाणो निबन्धान्॥ १३॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(समणो) शत्रु मित्रमें समान भावधारी साधु (णिबन्धाणि परिहरमाणो) चेतन अचेतन मिश्र

पदार्थोंमें अपने रागद्वेष रूप सम्बन्धोंको छोड़ता हुआ (सामण्णे उवट्ठिदो भवीय) अपने शुद्धात्मानुभवरूपी मुनिपदमें ठहरे सहित होकर अर्थात् निज शुद्धात्माका अनुभवनरूप निश्चय चारित्रमें भङ्ग न करते हुए (अधिवासे) व्यवहारसे अपने अधिकृत आचार्यके संघमें तथा निश्चयसे अपने ही शुद्धात्मारूपी घरमें (व विवासे) अथवा गुरु रहित स्थानमें (णिच्च विहरदु) नित्य विहार करे ।

विशेषार्थ–साधु अपने गुरुके पास जितने शास्त्रोंको पढ़ता हो उतने शास्त्रोंको पढ़कर पश्चात् गुरुकी आज्ञा लेकर अपने समान शील और तपके धारी साधुओंके साथ निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयकी भावनासे भव्य जीवोंको आनन्द पैदा करता हुआ तथा तप, शास्त्र, वीर्य, एकत्व और संतोष इन पांच प्रकारकी भावनाओंको भाता हुआ तथा तीर्थंकर परमदेव, गणधर देव आदि महान् पुरुषोंके चरित्रोंको स्वयं विचारता हुआ और दूसरोंको प्रकाश करता हुआ विहार करता है यह भाव है ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने विहार करनेकी रीति बताई है । जब साधु दीक्षा ले तब कुछ काल तक अपने गुरुके साथ रहे उस समय उनसे उपयोगी ग्रन्थोंकी शिक्षा ग्रहण करे तथा तथा परद्रव्य जितने हैं उन सबसे अपना रागद्वेष छोड़ देवे । स्त्री पुत्र मित्र अन्य मनुष्य व रागद्वेष ये सब चेतन परद्रव्य हैं । भूमि मकान, वस्त्र, आभूषण, ज्ञानावरणादि आठ कर्म व शरीरादि नोकर्म अचेतन परद्रव्य हैं तथा कुटुम्ब सहित घर, प्रजासहित नगर देश व रागद्वेष विशिष्ट वस्त्राभूषण मनुष्यादि मिश्र परद्रव्य हैं । इन सबको अपने शुद्धात्माके स्वभावसे भिन्न जानकर इनसे अपने राग-

द्वेषमई सम्बन्धोंका त्याग करे तथा अपने स्वरूपाचरण रूप निश्चय चारित्रमें व उसके सहकारी व्यवहार चारित्रमें भंग या दोष न लगावे। यदि कोई प्रमादसे दोष होजाय तो उसके लिये प्रायश्चित्त लेकर अपना दोष दूर करता रहे। जब निश्चय व्यवहार चारित्रमें परिपक्व होजाय तब अन्य अपने समान चारित्रके धारी साधुओंके संगमें अपने गुरुकी आज्ञा लेकर पहलेकी तरह निर्दोष चारित्रकी सम्हाल रखता हुआ विहार करे। तथा जब एकाविहारी होने योग्य होजावे तब गुरुकी आज्ञा लेकर अकेला विहार करते हुए साधुका यह कर्तव्य है कि स्वयं निश्चय चारित्रको पाले और शास्त्रोक्त व्यवहार चारित्रमें दोष न लगावे। इस तरह मुनि पदकी महिमाको प्रगट करता हुआ भक्तजन अनेक श्रावकादिकोंके मनमें आनन्द पैदा करावे और निरन्तर अपने चारित्रकी सहकारिणी इन पांच भावनाओंको इस तरह भावे—

(१) तप ही एक सार वस्तु है जैसा सुवर्ण अग्निमें तपाए जानेपर शुद्ध होता है वैसे आत्मा इच्छा रहित होता हुआ आत्मज्ञानरूपी अग्निमें ही शुद्ध होता है। (२) शास्त्रज्ञान बिना तत्वका विचार व उपयोगका रमण नहीं होसक्ता है इसलिये मुझे शास्त्रज्ञानकी वृद्धि व निःसशयपनेमें सदा सावधान रहना चाहिये (३) आत्मवीर्यसे ही कठिन २ तपस्या होती व उपसर्ग और परीषहोंका सहन किया जाता इससे मुझे आत्मबलकी वृद्धि करना चाहिये तथा आत्मबलको कभी न छिपाकर कर्म शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये वीर योद्धाके समान अभेद रत्नत्रयरूपी खड्गको चमकाते व उसे उन [illegible] करते रहना चाहिये। (४) एकत्व की

है, मै अकेला ही अनादिकालसे इस संसारके चक्रमें अनेक जन्म मरणोंको भोगता हुआ फिरा हू, मैं अकेला ही अपने भावोंका अधिकारी हू मैं अकेला ही अपने कर्तव्यसे पुण्य पापका बांधने वाला हू, मैं अकेला ही अपने शुद्ध ध्यानसे कर्म बन्धनोंको काटकर केवलज्ञान प्राप्त कर अरहंत होता हुआ फिर मरके लिये कृत कृत्य और सिद्ध हो सका हू-मेरा सम्बन्ध न किसी जीवसे है न किसी पुद्गलादि पर द्रव्यसे है। (५) संतोष ही परमामृत है। मुझे लाभ अलाभ, सुख दुःख मे सदा संतोष रखना चाहिये। संसारके सब पदार्थोंके संयोग होनेपर भी जो लोभी है उनको कभी सुख शांति नहीं प्राप्त होसकी है। मैंने परिग्रह व आरंभका त्याग कर दिया है मुझे इष्ट अनिष्ट भोजन वस्तिका आदिमें राग द्वेष न करके कर्मोदयके अनुसार जो कुछ भोजन सरस नीरस प्राप्त हो उसमें हर्ष विषाद न करते हुए परम संतोषरूपी सुधाका पान करना चाहिये। इस तरह इन पांच भावनाओंको भाते तथा निरन्तर ? तीर्थंकर वृषभसेनादि गौतम गणधर श्री बाहुबलि आदि महामुनियोंके चरित्रोंको याद करके उन समान मोक्ष पुरुषार्थके साधनमें उत्साही बना रहे। आचार्य गाथामें कहते हैं कि जो साधु अपने चारित्र पालनमें सावधान है और निजानन्द रूपी घरमें निवास करनेवाला है वह चाहे जहां विहार करो चाहे गुरुकुलमें रहो चाहे उसके बाहर रहो-शत्रु मित्रमें समानभाव रख वैराग्य सच्चा श्रमण या साधु है। वह साधु विहार करते हुए अवसर पाकर जैन धर्मका विस्तार करता है। अनेक अज्ञानी जीवोंको ज्ञान दान करता है, कुमार्गगामी जीवोंको सुमार्गमें दृढ़ करता है

तथा मोक्षमार्गका सच्चा स्वरूप प्रगटकर रत्नत्रय धर्मकी प्रभावना करना है।

श्रीमूलाचारजी अनगारभावना अधिकारमें साधुओंके विहार सम्बन्धमें जो कथन है उसका कुछ अंश यह है।

गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विवित्तएगतवासीय॥ ७८५॥

साधु महाराज जो परम वीरवीर, जन्तु रहित मार्गमें चलनेवाले व स्त्री पशु नपुंसक रहित एकांत गुप्त स्थानमें वसनेवाले होते हैं। किसी ग्राममें एक रात्रि व कोट सहित नगरमें ५ दिन ठहरते हैं जिससे ममत्व न बढ़े व तीर्थयात्राभी प्राप्ति हो।

सज्झायझाणजुत्ता रत्तिं ण सुवंति ते पयामं तु।
सुत्तत्थं चिंतंता णिद्दाय वसं ण गच्छंति॥ ७८४॥

भावार्थ—साधु महाराज शास्त्र स्वाध्याय और ध्यानमें लीन रहते हुए रात्रिको बहुत नहीं सोते हैं। पिछला व पहला पहर रात्रिका छोड़कर बीचमें कुछ आराम करते हैं तो भी शास्त्रके अर्थको विचारते रहते हैं। निद्राके वश नहीं होते हैं।

वसुधम्मिवि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाई।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु॥ ७९८॥

भावार्थ—पृथ्वीमें भी विहार करते हुए साधु महाराज किसी जीवको कभी भी कष्ट नहीं देते हैं—वे जीवोंपर इसी तरह दया रखते हैं जैसे माता अपने पुत्र पुत्रियोंपर दया रखती है।

णिक्खित्तसत्थदंडा समणा सम सव्वपाणभूदेसु।
अप्पट्ठं चिंतंता हवन्ति अव्वावडा साहू॥ ८०३॥
उवसंतादीणमणा उवेक्खसीला हवंति मज्झत्था।
णिहुदा अलोलमसठा अविंभिया कामभोगेसु॥ ८०४॥

भावेंति भावणरदा वइरग्ग वीदरागयाण च ।
णाणेण दसणेण य चरित्तजोण्ण विरिएण ॥ ८०८ ॥

भावार्थ–साधु महाराज विहार करते हुए शस्त्र लकडी आदि नहीं रखने व सब प्राणिमात्रपर समताभाव रखते हैं तथा सर्व लौकिक व्यापारसे रहित होकर आत्माके प्रयोजनको विचारते रहते हैं। वे साधु परम शात कषाय रहित होते हैं, दीनता कभी नहीं करते, भूख प्यासादिकी बाधा होनेपर भी याचना आदिके भाव नहीं करते, उपसर्ग परिसह सहनेमें उत्साही रहते, समदर्शी होते, कछुवेके समान अपने हाथ पगोंको सकुचित रखते हैं, लोभी नहीं होते, मायाजाल रहित होते हैं तथा काम भोगादिक पदार्थोंमें आत्मभाव नहीं रखते हैं। वे निग्रन्थ साधु बारह भावनाओंमें रत रहकर अपने ज्ञान दर्शन चारित्रमई योग तथा वीर्यसे वीतराग जिनेन्द्रोंके वैराग्यकी भावना करते रहते हैं ॥ १३ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मुनिपदकी पूर्णताके हेतुमे साधुको अपने शुद्ध आत्मद्रव्यमें सदा लीन होना योग्य है।

चरदि णिबद्धो णिच्च समणो णाणम्मि दसणमुहम्मि ।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥ १४ ॥
चरति निबद्धो नित्य श्रमणो ज्ञाने दर्शनमुखे ।
प्रयतो मूलगुणेषु च य स परिपूर्णश्रामण्य ॥ १४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जो समणो) जो मुनि (दसण-मुहम्मि णाणम्मि) सम्यग्दर्शनको मुख्य लेकर सम्यग्ज्ञानमें (णिच्च णिबद्धो) नित्य उनके आधीन होता हुआ (य मूलगुणेसु पयदो) और मूलगुणोंमें प्रयत्न करता हुआ (चरदि) आचरण करता है (सो पडिपुण्णसामण्णो) वह पूर्ण यति होजाता है।

विशेषार्थ—जो लाभ अलाभ आदिमें समान चित्तको रखने वाला श्रमण तत्त्वार्थश्रद्धान और उसके फलरूप निश्चय सम्यग्दर्शनमें जहां एक निज शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचि होती है तथा वीतराग सर्वज्ञसे कहे हुए परमागमके ज्ञानमें और उसके फलरूप स्वसंवेदन ज्ञानमें और दूसरे आत्मीक अनन्त सुख आदि गुणोंमें सर्व काल तल्लीन रहता हुआ तथा अठाईस मूलगुणोंमे अथवा निश्चय मूलगुणके आधाररूप परमात्म-द्रव्यमें उद्योग रखता हुआ आचरण करता है सो मुनि पूर्ण मुनि-पनेका लाभ करता है। यहां यह भाव है कि जो निज शुद्धा त्माकी भावनामें रत होते हैं उन हीके पूर्ण मुनिपना होसक्ता है।

भावार्थ—यहां यह भाव है कि जो अपनी शुद्ध मुक्त अवस्थाके लाभके लिये मुनि पदवीमें आरूढ होता है उसका उपयोग व्यवहार सम्यक्त और व्यवहार सम्यग्ज्ञानके द्वारा निश्चय सम्यक्त तथा निश्चय सम्यग्ज्ञानमें तल्लीन रहता है—रागद्वेषकी कल्लोलोंमे उपयोग आत्माकी निर्मल भूमिकाको छोडकर अन्य स्थानमें न जावे इसलिये ऐसे भावलिंगी सम्यग्ज्ञानी साधुको व्यवहारमें साधुके अट्ठाईस मूलगुणोंको पालकर निश्चय सम्यक्चारित्ररूपी साम्यभावमें तिष्ठना हितकारी है। इसीलिये मोक्षार्थी श्रमण अभेद रत्नत्रय-रूपी साम्यभावमें तिष्ठनेका उद्यम रखता है। धर्मध्यानमें व शुक्ल-ध्यानमें चेष्टित रहता है जिस ध्यानके प्रभावसे बिलकुल वीतरागी होकर पूर्ण निर्ग्रन्थ मुनि होजाता है। फिर केवली होकर स्नातक पदको उल्लंघनकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है। अनंत कालके लिये अपनी परम शुद्ध अभेद नगरीमें वास प्राप्त

इसलिये साधुको योग्य है कि व्यवहारमें मग्न न होकर निरन्तर शुद्धात्म द्रव्यका भजन, मनन व अनुभव करे। यही मोक्ष-लाभका मार्ग है। जो व्यवहार ध्यान व भजन व क्रियाकांड और रक्षा आदिमें ही उपयुक्त हैं परन्तु शुद्ध आत्मानुभवरूप उपयोगमें आसक्त हैं वे कभी भी मुनिपदसे अपना स्वरूप प्राप्त नहीं कर सक्ते, क्योंकि भाव ही प्रधान कारण है। मुनिकी ध्यानावस्थाकी महिमा मूलाचारके अनगारभावना नामके अधिकारमें इसतरह बताई है।

धिदिधणिदणिच्छिदमदी चारित्तपायार गोउर तुंग।
खंता सुघद कवाड तवणयर संजमारक्खं ॥ ८७७ ॥
रागो दोसो मोहो इंदिय चोरा य उज्जदा णिच्चं।
ण च यंति पहंसेदुं सप्पुरिससुरक्खियं णयरं। ८७८।

भावार्थ-साधुका तपरूपी नगर ऐसा दृढ़ होता है कि धैर्य संतोष आदिमें परम निश्चित जो बुद्धि सो उस तप नगरका दृढ़ कोट है। तेरह प्रकार चारित्र उसका बड़ा ऊंचा द्वार है। क्षमा भाव उसके बड़े दृढ़ कपाट हैं, इंद्रिय और प्राणसंयम उस नगरके रक्षक कोतवाल है। सम्यग्दृष्टी आत्माद्वारा तपरूपी नगर अच्छी तरह रक्षित किये जानेपर राग द्वेष मोह तथा इंद्रियोंकी इच्छारूपी चोर उस नगरमें अपना प्रवेश नहीं पासक्ते हैं।

जह ण चलइ गिरिरायो अवरुत्तरपुव्वदक्खिणेवाए।
एवमचलिदो जोगी अभिक्खणं झायदे झाणं ॥ ८८४ ॥

भावार्थ-जैसे सुमेरु पर्वत पूर्व पश्चिम दक्षिण उत्तरकी पवनोंसे जरा भी चलायमान नहीं होता उसी तरह योगी सर्व परीषह व उपसर्गोंमें व रागद्वेषादि भावोंमें चलायमान न होता हुआ निरन्तर ध्यानका ध्यानेवाला होता है ॥ १४ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि प्रासुक आहार आदिमें भी जो ममत्व है वह मुनिपदके भंगका कारण है इसलिये आहारादिमें भी ममत्व न करना चाहिये—

भत्ते वा खवणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा।
उवधम्मि वा णिवद्ध णेच्छदि समणम्मि विकधम्मि ॥१५॥

भक्ते वा क्षपणे वा आवसथे वा पुनर्विहारे वा।
उपधौ वा निबद्ध नेच्छति श्रमणे विकथायाम् ॥ १५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—साधु (भत्ते) भोजनमें (वा) अथवा (खवणे) उपवास करनेमें (वा आवसधे) अथवा वस्तिकामें (वा विहारे) अथवा विहार करनेमें, (वा उवधम्मि) अथवा शरीर मात्र परिग्रहमें (वा समणम्मि) अथवा मुनियोंमें (पुणो विकधम्मि) वा विकथाओंमें (णिवद्ध) ममतारूप सम्बन्धको (णेच्छदि) नहीं चाहता है।

विशेषार्थः—साधु महाराज शुद्धात्माकी भावनाके सहकारी शरीरकी स्थितिके हेतुसे प्रासुक आहार लेते हैं सो भक्त है, इन्द्रियोंके अभिमानको विनाश करनेके प्रयोजनसे तथा निर्विकल्प समाधिमें प्राप्त होनेके लिये उपवास करते हैं सो क्षपण है, परमात्म तत्वकी प्राप्तिके लिये सहकारी कारण पर्वतकी गुफा आदि वसनेका स्थान सो आवसथ है। शुद्धात्माकी भावनाके सहकारी कारण आहार नीहार आदिक व्यवहारके लिये व देशान्तरके लिये विहार करना सो विहार है, शुद्धात्माकी भावनाके सहकारी कारण रूप शरीरको धारण करना व ज्ञानका उपकरण शास्त्र, शौचोपकरण कमंडल, दयाका उपकरण पिच्छिका इनमें ममताभाव सो उपधि है,

परमात्म पदार्थके विचारमें सहकारी कारण समता और शरीरके समूह तपोधन सो श्रमण हैं, परम समाधिके घातक शृंगार, वीर व राग द्वेषादि कथा करना सो विकथा है। इन भक्त, क्षपण, आवसथ, विहार, उपधि, श्रमण तथा विकथाओंमें साधु महाराज अपना ममताभाव नहीं रखते हैं। भाव यह यह है कि आगमसे विरुद्ध आहार विहार आदिमें वर्तनेका तो पहले ही निषेध है अत अब साधुकी अवस्थामें योग्य आहार, विहार आदिमें भी साधुको ममता न करना चाहिये।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि जिन कार्योंको साधुको प्रमत्त गुणस्थानमें करना पड़ता है उन कार्योंमें भी साधुको मोह या ममत्व न रखना चाहिये—उदासीन भावसे उनकी अत्यन्त आवश्यक्ता समझकर उन कामोंको करलेना चाहिये परन्तु अंतरंगमें उनसे भी वैरागी रहकर मात्र अपने शुद्धात्मानुभवका प्रेमालु रहना चाहिये। शरीररक्षाके हेतु भोजन करना ही पड़ता है परन्तु आहार लेनेमें बड़े धनवान घरका व निर्धनका सरस नीरसका कोई ममत्व न रखना चाहिये—शास्त्रोक्त विधिसे शुद्ध भोजन गाय गोचरीके समान ले लेना चाहिये। जैसे गौ भोजन करते हुए संतोषसे अन्य विकल्प न करके जो चारा मिले खा लेती है वैसे साधुको जो मिले उसीमें ही परम संतोषी रहना चाहिये। उपवासोंके करनेका भी मोह ममत्व व अभिमान न करना चाहिये। जब देखे कि इंद्रियोंमें विकार होनेकी संभावना है व शरीर सुखिया स्वभावमें जारहा है तब ही उपवासरूपी तपको परम उदासीन भावसे कर लेना चाहिये। जिससे कि ध्यानकी सिद्धि हो यही मुख्य

उपाय साधुको करना है। ध्यान व तत्व विचारके लिये जो स्थान उपयोगी हो व जहा ब्रह्मचर्यको दोषित करनेवाले स्त्री पुरुषोंका समागम न हो व पशु पक्षी विकलत्रयोंका अधिक सचार न हो व जहा न अधिक शीत न अधिक उष्णता हो ऐसे सम प्रदेशमें ठहरते हुए भी साधु उसमें मोह नहीं करते। वर्षाकालके सिवाय अधिक दिन नहीं ठहरते। ममता छोड़नेके लिये व ध्यानकी सिद्धिके लिये व धर्म प्रचारके लिये साधुओंको विहार करना उचित है,। इस विहार करनेके काममें भी ऐसा राग नहीं करते कि विहारमें नए नए स्थलोंके देखनेसे आनन्द आता है। साधु महाराज मात्र ध्यानकी सिद्धिके मुख्य हेतुसे ही परम वराग्यभावसे विहार करते रहते हैं। यद्यपि शरीर सिवाय अन्य वस्त्रादि परिग्रहको साधुने त्याग दिया है तथापि शरीर, कमडल, पीछी, शास्त्रकी परिग्रह रखनी पडती है क्योंकि ये ध्यानके लिये सहकारी कारण हैं तथापि साधु इनमे भी ममता नहीं करते। यदि कोई शरीरको कष्ट देवें, पीछी आदि लेलेवे तो समताभाव रखकर स्वय सब कुछ सहलेते परन्तु अपने साथ कष्ट देनेवालेपर कुछ भी रोष नहीं करते। धर्मचर्चाके लिये दूसरे साधुओंकी सगति मिलाते हैं तो भी उनमें वे रागभाव नहीं बढाते, केवल शुद्धात्माकी भावनाके अनुकूल वार्तालाप करके फिर अलग२ अपने२ नियत स्थानपर जा ध्यानस्थ व तत्वविचारस्थ हो जाते हैं। यदि कदाचित् कहीं शृगार व वीर रस आदिकी कथाए सुन पडे व प्रथमानुयोगके साहित्यमें काव्योंमें ये कथाएं मिलें व स्वय काव्य या पुराण लिखते हुए इन कथाओंको लिखें तो भी ... में रागी नहीं होते वे इनको ...

स्वभाव मात्र जानते तथा ससार–नाटकके द्रष्टाके समान उनमें ममत्व नहीं करते । इस तरह साधुका व्यवहार बहुत ही पवित्र परम वैराग्यमय, जीवदया पूर्ण व जगत हितकारी होता है । साधुका मुख्य कर्तव्य निज शुद्धात्माका अनुभव है क्योंकि यही साधुका मुख्य साधन है जो आत्मसिद्धिका साक्षात् उपाय है ।

श्री मूलाचार अनगारभावना अधिकारमें साधुओंका ऐसा कर्तव्य बताया है —

ते होंति णिव्वियारा थिमिदमदी पदिट्ठिदा जहा उदधी ।
णियमेसु दढव्वदिणो पारत्तविमग्गया समणा ॥ ८५९ ॥
जिणवयणमासिदत्थं पत्थं च हिदं च धम्मसंजुत्तं ।
समओवयारजुत्तं पारत्तहिदं कथं करेंति ॥ ८६० ॥

भावार्थ–वे मुनि विकार रहित होते हैं, उनकी चेष्टा उद्धतनासे रहित थिर होती है, वे निश्चल समुद्रके समान क्षोभ रहित होते हैं, अपने छ आवश्यक आदि नियमोंमें दृढ प्रतिज्ञावान होते हैं तथा इस लोक व परलोक सम्बन्धी समस्त कार्योंको अच्छी तरह विचारते व दूसरोंको कहते हैं । ऐसे साधु ऐसी कथा करते हैं जो जिनेन्द्र कथित पदार्थोंको कथन करनेवाली हो, जो श्रोताओंके व्यानमें आसके व उनको गुणकारी हो इसलिये पथ्य हो, व जो हितकारिणी हो व धर्म सयुक्त हो, जो आगमके विनय सहित हो व इसलोक परलोकमें कल्याणकारिणी हो । वास्तवमें जैन श्रमणोंका सर्व व्यवहार अत्यत उदासीन व मोक्षमार्गका साधक होता है ।

इस तरह सक्षेपसे आचारकी आराधना आदिको कहते हुए साधु महाराजके विहारके व्याख्यानकी मुख्यतासे चौथे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुई ॥ १९ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि छेद या भंग शुद्धात्माकी भावनाका निरोध करनेवाला है।

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संततत्ति मदा ॥ १६ ॥

अप्रयता वा चर्या शयनासनस्थानचङ्क्रमणादिषु।
श्रमणस्य सर्वकाले हिंसा सा सन्ततेति मता ॥ १६ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ.-(वा) अथवा (समणस्स) साधुकी (सयणासणठाणचंकमादीसु) शयन, आसन, खडा होना, चलना, स्वाध्याय, तपश्चरण आदि कार्योंमें (अपयत्ता चरिया) प्रयत्नरहित चेष्टा अर्थात् कषायरहित स्वसंवेदन ज्ञानसे छूटकर जीवदयाकी रक्षासे रहित संक्लेश भाव सहित जो व्यवहारका वर्तना है (सा) वह (सव्वकाले) सर्वकालमें (संततत्ति हिंसा) निरन्तर होनेवाली हिंसा अर्थात् शुद्धोपयोग लक्षणमई मुनिपदको छेद करनेवाली हिंसा (मदा) मानी गई है॥

विशेषार्थ-यहां यह अर्थ है कि बाहरी व्यापाररूप शत्रुओंको तो पहले ही मुनियोंने त्याग दिया था परन्तु बैठना, चलना, सोना आदि व्यापारका त्याग हो नहीं सक्ता-इस लिये इनके निमित्तसे अन्तरङ्गमें क्रोध आदि शत्रुओंकी उत्पत्ति न हो-साधुको उन कार्योंमें सावधानी रखनी चाहिये। परिणाममें संक्लेश न करना चाहिये।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने व्रतभंगका स्वरूप बताया है। निश्चयसे साधुका शुद्धोपयोगरूपी सामायिकमें वर्तना ही व्रत है। व्यवहारमें अठाईस मूलगुणोंका साधन है। जो मुनि अपने उप-

योगकी शुद्धता या वीतराग परिणतिमें सावधान हैं उनके भावोंमें प्रमाद नहीं आता। वे प्रयत्न करके ध्यानस्थ रहते हैं और जब शरीरकी आवश्यकतामें बैठना, चलना, खडे होना, शास्त्र, पीछी, कमण्डल उठाना आदि कायकी तथा व्याख्यान देना आदि वचनकी क्रियाएं करनी होती हैं तब भी अपने भावोंमें कोई सक्लेशभाव या अशुद्ध भाव या असावधानीका भाव नहीं लाते हैं। जो साधु अपने वीतराग भावकी सम्हाल नहीं रखते और उठना, बैठना चलना आदि कार्योंको करते हुए क्रोध, मान, माया, लोभके वशी भूत हो दोष लगाते अथवा रागद्वेष या अहंकार ममकार करते वे साधु निरन्तर हिंसा करनेवाले होजाते हैं, क्योंकि वीतराग भाव ही अहिंसक भाव है उसका भग सो ही हिंसा है। हिंसा दो प्रकारकी होती है एक भाव हिंसा दूसरी द्रव्यहिंसा। आत्माके शुद्ध भावोंका जहां घात होता हुआ रागद्वेष आदि विकारभावोंका उत्पन्न हो जाना सो भाव हिंसा है। स्पर्शादि पांच इंद्रिय, मन वचन काय तीन बल, आयु, श्वासोश्वास इन दस प्राणोंका सबका व किसी एक दो चारका भाव हिंसाके वश हो नाश करना व उनको पीडित करना सो द्रव्यहिंसा है। भाव प्राण आत्माकी ज्ञान चेतना है, द्रव्य प्राण स्पर्शनादि दश हैं। इन प्राणोंके घातका नाम हिंसा है। कहा है —

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।

(तत्वार्थसूत्र उमा० अ० ७ सू० १३)

भावार्थ —कषाय सहित मनवचनकाय योगके द्वारा प्राणोंको पीडित करना सो हिंसा है। जो साधु भावोंमें प्रमादी या

असावधान हो जायगा वह निरन्तर हिंसाका भागी होगा। क्योंकि उसका मन कषायके आधीन हो गया, उसके भावप्राणोंकी हिंसा होचुकी, परन्तु जो कोई भावोंमें वीतरागी है-अपने चलने बैठने आदिके कार्योंमें सावधानीसे वर्तता है, फिर भी अकस्मात् कोई दूसरा जन्तु मरणकर जावे तो वह अप्रमादी जीवहिंसाका भागी नहीं होता है क्योंकि उसने हिंसाके भाव नहीं किये थे किन्तु अहिंसा व सावधानीके भाव किये थे। बाह्य किसी जंतुके प्राण न भी घाते जावें परन्तु जहा अपने भावोंमें रागद्वेषादि विकार होगा वहा अवश्य हिंसा है। वीतरागता होते हुए यदि शरीरकी सावधान चेष्टापर भी कोई जंतुके प्राण पीडित हो तो वह वीतरागी हिंसा करनेवाला नहीं है।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थमें श्री अमृतचंद्र आचार्यने हिंसा व अहिंसाका स्वरूप बहुत स्पष्ट बता दिया है—

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥ ४२ ॥
यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणां।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥
अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ ४४ ॥
युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥ ४५ ॥

भावार्थ—जहा आत्माके परिणामोंकी हिंसा है वही हिंसा है। असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह ये चार पाप हिंसाईके उदाहरण हैं। वास्तवमें क्रोधादि कषाय सहित मन, वचन,

भाव प्राणों और द्रव्य प्राणोंका पीडित करना वही असली हिंसा है। निश्चयसे रागद्वेषादि भावोंका न उपजना अहिंसा है और उन्हीका होजाना हिंसा है यह जैन शास्त्रोंका सक्षेपमें कथन है। रागादिके वश न होकर योग्य सावधानीसे आचरण करते हुए यदि किसीके द्रव्य प्राणोंका पीडन हो भी तौभी हिंसा नहीं है। अभिप्राय यही है कि मूल कारण हिंसा होनेका प्रमादभाव है। अप्रमादी हिंसक नहीं है प्रमादी सदा हिंसक है।

पण्डित आशाधरने अनागारधर्मामृतमे इसतरह कहा है—

रागाद्यसगत प्राणव्यपरोपेऽप्यहिंसक ।
स्यात्तदव्यपरोपेपि हिंस्रो रागादिस श्रित ॥ २३/४ ॥

भावार्थ—रागादिके न होते हुए मात्र प्राणोंके घातसे जीव हिंसक नही होता, परन्तु यदि रागादिके वश है तो बाह्य प्राणोंके घात न होते हुए भी हिंसा होती है। और भी—

प्रमत्तो हि हिनस्ति स्व प्रागात्माऽऽतङ्कतायनात् ।
परोनु म्रियता मा वा रागाद्या ह्यरयोऽङ्गिन ॥ २४ ॥

भावार्थ—प्रमादी जीव व्याकुलताके रोगसे सतापित होकर पहले ही अपनी हिंसा कर लेता है, पीछे दूसरे प्राणीकी हिंसा हो व मत हो। जैसे किसीने किसीको कष्ट देनेका भाव किया तब वह तो मारके होने ही हिंसक होगया। भाव करके जब वह मारनेका यत्न करे वह यत्न सफल हो व न हो कोई नियम नहीं है। वास्तवमें रागादि शत्रु ही इस जीवके शत्रु है। इन्हींसे अपनी शांति नष्ट होती व कर्मका बध होता है। और भी—

पर जिनागमस्येद रहस्यमवधार्यताम् ।
हिंसारागाद्युद्भूतिरहिंसा तदनुद्भव ॥ २६ ॥

भावार्थ–यह जिनआगमका बढ़िया रहस्य चित्तमें धारलो कि जहा रागादिकी उत्पत्ति है वहा हिंसा है तथा जहा २ इनकी प्रगटता नही है वहा अहिंसा है॥ १६ ॥

उत्थानिका--आगे हिंसाके दो भेद हैं अन्तरङ्ग हिंसा और बहिरङ्ग हिंसा। इसलिये छेद या भङ्ग भी दो प्रकार है ऐसा व्याख्यान करते हैं —

मरदु व जिवदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामेत्तेण समिदीसु ॥ १७ ॥

म्रियतां वा जीवतु वा जीवोऽयताचारस्य निश्चिता हिंसा।
प्रयतस्य नास्ति बन्धो हिंसामात्रेण समितिषु ॥ १७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जीवो मरदु व जियदु) जीव मरो या जीता रहो (अयदाचारस्स) जो यत्न पूर्वक आचरणमें रहित है उसके (णिच्छिदा हिंसा) निश्चय हिंसा है (समिदीसु) समितियोंमें (पयदस्स) जो प्रयत्नवान है उसके (हिंसामेत्तेण) द्रव्य प्राणोंकी हिंसा मात्रसे (बन्धो णत्थि) बन्ध नहीं होता है।

विशेषार्थ–बाह्यमें दूसरे जीवका मरण हो या मरण न हो जब कोई निर्विकार स्वसंवेदन रूप प्रयत्नसे रहित है तब उसके निश्चय शुद्ध चैतन्य प्राणका घात होनेसे निश्चय हिंसा होती है। जो कोई भले प्रकार अपने शुद्धात्मस्वभावमें लीन है, अर्थात् निश्चय समितिको पाल रहा है तथा व्यवहारसे ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, प्रतिष्ठापना इन पाच समितियोंमें सावधानी से अन्तरङ्ग — बहिरङ्ग प्रयत्नवान है, प्रमादी नहीं है उसके

मात्रसे बन्ध नहीं होता है । यहां यह भाव है कि अपने आत्म स्वभावरूप निश्चय प्राणको विनाश करनेवाली परिणति निश्चयहिंसा कही जाती है। रागादिक उत्पन्न करनेके लिये बाहरी निमित्तरूप जो परजीवका घात है सो व्यवहार हिंसा है, ऐसे दो प्रकार हिंसा जाननी चाहिये । किन्तु विशेष यह है कि बाहरी हिंसा हो या न हो जब आत्मस्वभावरूप निश्चय प्राणका घात होगा तब निश्चय हिंसा नियमसे होगी इसलिये इन दोनोंमें निश्चय हिंसा ही मुख्य है ।

भावार्थ-इस गाथामें भी आचार्यने मुख्यतासे अप्रमादभावकी पुष्टि की है तथा यह बताया है कि जो परिणामोंमें हिंसक है अर्थात् रागद्वेषादि आकुलित भावोंसे वर्तन कररहा है वह निश्चय हिंसाको कररहा है क्योंकि उसका अन्तरंग भाव हिंसक होगया। इसीको अन्तरंग हिंसा या अन्तरंग चारित्रछेद या भंग कहते हैं। इस भाव हिंसाके होते हुए अपने तथा दूसरेके द्रव्य या बाहरी शरीराश्रित प्राणोंका घात हो जाना सो बहिरंग हिंसा या छेद या भंग है। बिना अंतरंग छेदके बहिरंग छेद हो नहीं सक्ता, क्योंकि जो साधु सावधानीसे ईर्यासमिति आदि पाल रहा है और बाह्य जन्तुओंकी रक्षामें सावधान है, परन्तु यदि कोई प्राणीका घात भी होजावे तो भी वह हिंसक नहीं है । तथा यदि साधुमें सावधानीका भाव नहीं है और कषायभावसे वर्तन है तो चाहे कोई मरो या न मरो वह साधु हिंसाका भागी होकर बंधको प्राप्त होगा, किन्तु प्रयत्नवान बन्धको प्राप्त न होगा ।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है —

व्युत्थानावस्थायाम् रागादीना वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियता जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुव हिंसा ॥ ४६ ॥
यस्मात्सकषाय सन हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यतराणा तु ॥ ४७ ॥

भावार्थ–जब रागादिके वश प्रवृत्ति करनेमे प्रमाद अवस्था होगी तब कोई जीव मरो या न मरो निश्चयसे हिंसा आगे २ दौडती है क्योंकि कषाय सहित होता हुआ यह आत्मा पहले अपने ही से अपना घात कर लेता है, पीछे अन्य प्राणियोंकी हिंसा हो अथवा न हो ॥ १७ ॥

उत्थानिका–आगे इसी ही अर्थको दृष्टान्त दार्ष्टान्तसे दृढ करते हैं।

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए ।
आबाधेज्ज कुलिंग मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥ १८ ॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहमो य देसिदो समये ।
मुच्छापरिग्गहोच्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो ॥ १९ ॥

उच्चालिते पादे ईर्यासमितस्य निर्गमस्थाने।
आबाध्येत कुलिंग म्रियता वा त योगमाश्रित्य ॥ १८ ॥
नहि तस्य तन्निमित्तो बध सूक्ष्मोऽपि देशित समये ।
मूर्छापरिग्रहश्चैव अध्यात्मप्रमाणत दृष्ट ॥१९॥ (युग्मम्)

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(इरियासमिदस्स) ईर्या समितिमे चलनेवाले मुनिके (णिग्गमत्थाए) किसी स्थानसे जाते हुए (उच्चालियम्हि पाए) अपने पगको उठाते हुए (त जोगमासेज्ज) उस पगके सघट्टनके निमित्तसे (कुलिंग) कोई छोटा जतु (आबाधेज्ज) बाधाको पावे (मरिज्ज) वा मर जावे (तस्स) उस साधुके ...

मुहमो य बधो) इस क्रियाके निमित्तसे जरासा भी कर्मका बंध (समये) आगममें (णहि देसिदो) नहीं कहा गया है। जैसे (मुच्छा परिग्गहोच्चिय) मूर्छाको परिग्रह कहते हैं सो (अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो) अन्तरङ्ग भावके अनुसार मूर्छा देखी गई है।

विशेषार्थ–मूर्छारूप रागादि परिणामोंके अनुसार परिग्रह होती है, बाहरी परिग्रहके अनुसार मूर्छा नहीं होती है तैसे यहां सूक्ष्म जन्तुके घात होनेपर जितने अंशमें अपने स्वभावसे चलन रूप रागादि परिणति रूप भाव हिंसा है उतने ही अंशमें बन्ध होगा, केवल पगके सघट्टनसे मरने हुए जीवके उस तपोधनके रागादि परिणतिरूप भाव हिंसा नहीं होती है-इसलिये बध भी नहीं होता है।

भावार्थ–इन दो गाथाओंमें आचार्यने बताया है कि जबतक भाव हिंसा न होगी तबतक हिंसा सम्बन्धी बंध न होगा। एक साधु शास्त्रोक्त विधिसे ४ हाथ भूमि आगे देखकर वीतरागभावसे चल रहा है उसने तो पग सम्हालके उठाया या रक्खा-यदि उसके पगकी रगड़से कोई अचानक नीचेमें आजानेवाला छोटा जन्तु पीड़ित हो जावे अथवा मरजावे तोभी उसके परिणामोंमें भावहिंसाके न होनेसे बन्ध न होगा। बंधका कारण बाहरी क्रिया नहीं है किन्तु राग द्वेष मोह भाव है, जितने अंशमें रागादिभाव होगा उतने ही अंशमें बन्ध होगा। रागादिके विना बन्ध नहीं होसक्ता है। इस पर आचार्यने परिग्रहका दृष्टांत दिया है कि मूर्छा या अन्तरंग ममत्त्व परिणामको मूर्छा कहा है। बाहरी पदार्थ अधिक होनेसे अधिक मूर्छा व कम होनेसे कम मूर्छा होगी ऐसा नियम नहीं है।

किसीके बाहरी पदार्थ बहुत अल्प होनेपर भी तीव्र मूर्छा है। किसीके बाहरी पदार्थ बहुत अधिक होनेपर भी अल्प मूर्छा है-जितना ममत्व होगा उतना परिग्रह जानना चाहिये। इसी तरह जैसा हिंसात्मक भाव होगा वैसा बन्ध पडेगा। अहिंसामई भावोंसे कभी बन्ध नहीं हो सक्ता। श्री अमृतचन्द्र आचार्यने समयसारकलशमें कहा है-

लोक कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मक कर्मेत-
त्तान्यस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादन चास्तु तत्।
रागादीनुपयोगभूमिमनयद्‌ ज्ञान भवेत् केवलं,
बन्ध नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवं ॥ ३ ॥

भावार्थ-लोक कार्मणवर्गणाओंसे भरा रहो, हलनचलनरूप योगोंका कर्म भी होता रहो, हाथपग आदि कारणोंका भी व्यापार हो व चेतन्य व अचेतन्य प्राणीका घात भी चाहे हो परन्तु यदि ज्ञान रागद्वेषादिको अपनी उपयोगकी भूमिमें न लावे तो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी निश्चयसे कभी भी बन्धको प्राप्त न होगा।

भाव यही है कि बाहरी क्रियासे बन्ध नहीं होता, बन्ध तो अपने भीतरी भावोंसे होता है।

श्री समयसारजीमें भी कहा है-

वत्थु पडुच्च त पुण अज्झवसाण तु होदि जीवाण।
ण हि वत्थुदोदु बधो अज्झवसाणेण बधोत्ति ॥ २७७ ॥

भावार्थ-यद्यपि बाहरी वस्तुओंका आश्रय लेकर जीवोंके रागादि अध्यवसान या भाव होता है तथापि बन्ध वस्तुओंके अधिक या कम सम्बधसे नहीं, किन्तु रागादि भावोंसे ही बन्ध होता है।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें श्री अमृतचदजी कहते हैं —

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति ॥ २४ ॥

भावार्थ–जितने अंशमें कषायरहित चारित्रभाव होगा उतने अंशमें इस जीवके बंध नहीं होता है, परन्तु जितना अंश राग है उसी अंशमें बंध होगा। तात्पर्य यही है कि रागादिरूप परिणति भाव हिंसा है इसीके द्वारा द्रव्यहिंसा होसक्ती है ॥१९॥

उत्थानिका–आगे आचार्य निश्चय हिंसारूप जो अन्तरङ्ग छेद है उसका सर्वथा निषेध करते हैं —

अयदाचारो समणो छस्सुवि कायेसु वधकरोत्ति मदो ।
चरदि जद जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥२०॥

अयताचारः श्रमणः षट्स्वपि कायेषु वधकर इति मतः ।
चरति यतं यदि नित्यं कमलमिव जले निरुपलेपः ॥ २० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(अयदाचारो समणो) निर्मल आत्माके अनुभव करनेकी भावनारूप चेष्टाके विना साधु (छस्सु वि कायेसु) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु वनस्पति तथा त्रस इन छहों ही कायोंका (वधकरोत्ति मदो) हिंसा करनेवाला माना गया है। (जदि) यदि (णिच्चं) सदा (जदं) यत्नपूर्वक (चरदि) आचरण करता है तो (जले कमलं व णिरुवलेवो) जलमें कमलके समान कर्म बंधके लेप रहित होता है। यदि पाठमें (बंधगोत्ति) पाठ लेवें तो यह अर्थ होगा कि अयत्न शील कर्म बंध करनेवाला है।

विशेषार्थ–यहां यह भाव बताया गया है कि जो साधु शुद्धात्माका अनुभवरूप शुद्धोपयोगमें परिणमन कर रहा है वह पृथ्वी आदि छह कायरूप जन्तुओंसे भरे हुए इस लोकमें विच-

रता हुआ भी यद्यपि बाहरमें कुछ द्रव्य हिंसा है तौ भी उसके निश्चय हिंसा नहीं है। इस कारण सर्व तरहसे प्रयत्न करके शुद्ध परमात्माकी भावनाके बलसे निश्चय हिंसा ही छोडनेयोग्य है।

भावार्थ—यहां आचार्यने अन्तरंग हिंसाकी प्रधानतासे उपदेश किया है कि शुद्धोपयोग या शुद्धात्मानुभूति या वीतरागता अहिंसा भाव है और इस भावमें रागद्वेषकी परिणति होना ही हिंसा है। जो साधु वीतरागी होते हैं वे चलने, बैठने, उठने सोने, भोजन करने आदि क्रियाओंमें बहुत ही यत्नसे वर्तते हैं-सर्व जंतुओंको अपने समान जानते हुए उनकी रक्षामें सदा प्रयत्नशील रहते हैं उन साधुओंके भावोंमें छेद या भंग नहीं होता। अर्थात उनके हिंसक भाव न होनेसे वे हिंसा सम्बन्धी कर्मबंधसे लिप्त नहीं होते हैं उसी तरह जिस तरह कमल जलके भीतर रहता हुआ भी जलसे स्पर्श नहीं किया जाता। यद्यपि इस सूक्ष्म, बादर छः कायोंसे भरे हुए लोकमें विहार व आचरण करते हुए कुछ बाहरी प्राणियोंका घात भी हो जाता है तौभी जिसका उपयोग हिंसाभावसे रहित है वह हिंसाके पापको नहीं बांधता, परन्तु जो साधु प्रयत्न रहित होते हैं, प्रमादी होते हैं उनके बाहरी हिंसा हो व न हो वे छह कायोंकी हिंसाके कर्त्ता होते हुए हिंसा सम्बन्धी बंधसे लिप्त होते हैं। यहां यह भाव झलकता है कि मात्र परमाणोंके घात होजानेसे बन्ध नहीं होता। एक दयावान प्राणी दयाभावसे भूमिको देखते हुए चल रहा है। उसके परिणामोंमें यह है कि मेरे द्वारा किसी जीवका घात न हो ऐसी दशामें बादर पृथ्वी, वायु आदि प्राणियोंका घात शरीरकी चेष्टासे हो भी जावे तौ भी बद्ध-भाव हिंसाके

अभावमें कर्मबंध करनेवाला न होगा और यदि प्रमादी होकर हिंस कभाव रखता हुआ विचरेगा तो बाहरी हिंसा हो व कदाचित न भी हो तो भी वह हिंसा सम्बन्धी बंधको प्राप्त करलेगा। कर्मका बंध परिणामोंके ऊपर है बाहरी व्यवहार मात्रपर नहीं है। कहा है, श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें—

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंस ।
हिंसायतननिवृत्ति परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥ ४९ ॥

भावार्थ–यद्यपि परपदार्थके कारणसे जरासी भी हिंसाका पाप इस जीवके नहीं बन्धता है तथापि उचित है कि भावोंकी शुद्धिके लिये उन निमित्तोंको बचावे जो हिंसाके कारण हैं।

अनगारधर्मामृतमें कहा है —

जइ सुद्धस्स य बंधो होहिदि बहिरंगवत्थुजोएण ।
णत्थि दु अहिंसगो णाम वाउकायादि वधहेदू ॥ (अ० ४)

भावार्थ–यदि बाहरी वस्तुके योगसे शुद्ध वीतरागीके भी बंध होता हो तो वायुकाय आदिका वध होते हुए कोई भी प्राणी अहिंसक नहीं होसक्ता है।

पंडित आशाधरजी लिखते हैं —

"यदि पुन शुद्धपरिणामवतोपि जीवस्य स्वशरीरनिमित्तान्य प्राणिप्राणवियोगमात्रेण बंध स्यात् कस्यचिन्मुक्ति स्यात्, योगिनामपि वायुकायिकादिवधनिमित्तसद्भावात् ।'

यदि शुद्ध परिणामधारी जीवके भी अपने शरीरके निमित्तसे होनेवाले अन्य प्राणियोंके प्राण वियोगमात्रसे कर्म बन्ध हो जाता हो तो किसीको भी मुक्ति नहीं हो सक्ती है, क्योंकि योगियोंके द्वारा भी वायु काय आदिका वध होजानेका निमित्त मौजूद है।

जैन सिद्धान्तमें कर्मका बन्ध प्राकृतिक रूपसे होता है। क्रोध-
ान माया लोभ कषाय हैं इनकी तीव्रतामें अशुभ उपयोग होता
। यही हिंसक भाव है। वश यह भाव पाप कर्मका बन्ध
करनेवाला है।

जब उस जीवके रक्षा करनेका भाव होता है तब उसके पुण्य
कर्मका बन्ध होता है तथा जब शुभ अशुभ विकल्प छोड़कर
शुद्ध भाव होता है तब पूर्व बद्ध कर्मकी निर्जरा होती है। कषाय
बिना स्थिति व अनुभाग बन्ध नहीं होता है इसलिये पाप पु-
ण्यका बन्ध बाहरी पदार्थोंपर व क्रियापर अवलंबित नहीं है। यदि
कोई यत्नाचार पूर्वक जीवदयामें कोई आरम्भ कर रहा है तब
उसके परिणामोंमें जो रक्षा करनेका शुभ भाव है वह पुण्य कर्मको
बन्ध करेगा। यद्यपि उस आरम्भमें कुछ जन्तुओंका वध भी हो
जावे तो भी उस दयावानके वध करनेके भाव न होनेसे हिंसा
सम्बन्धी पापका बन्ध न होगा।

यदि कोई वैद्य किसी रोगीको रोग दूर करनेके लिये उसके
[illegible] अनुकूल न चलकर उसको कष्ट दे करके भी उसकी भला-
[illegible] प्रयत्नमें लगा है, उसकी चीर फाड भी करता है तो भी वह
[illegible] अपने भावोंमें रोगीके अच्छा होनेका भाव रखते हुए पुण्य
[illegible] तो बांधेगा परन्तु पाप नहीं बांधेगा। यद्यपि बाहरमें उस
[illegible] के प्राणपीडन रूप हिंसा हुई तो भी वह हिंसा नहीं है।

यदि एक राजा अपने न्यायवान चाकरोंको हिंसा करनेकी
[illegible] देता है और चाकरगण अपनी निन्दा करते हुए हिंसा कर
[illegible], परन्तु राजा [illegible]

जितना पाप बन्ध गनाको होगा उसके कई गुणा कम पाप चाक रोगी होगा ।

परिणामोंमे ही हिंसाका दोष लगता है इसके कुछ दृष्टान्त पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें इस तरहपर हैं –

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजन भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजन न स्यात् ॥ ५१ ॥

भावार्थ-किसीने स्वय हिंसा नहीं की परन्तु वह हिंसाके परिणाम कर रहा है इससे हिंसाके फलका भागी होता है। जैसे सेनाको युद्धार्थ भेजनेवाला राजा। दूसरा कोई हिंसा करके भी उस हिंसाके फलका भागी नहीं होता। जैसे विद्या गुरु शिष्यको दंड देता है, व राजा अपराधीको दण्ड देता है व वैद्य रोगीको चीड फाड करता है। इन तीनोंके द्वारा हिंसा हो रही है तथापि परिणाममें हिंसाका भाव नहीं है किन्तु उसके सुधारका भाव है, इससे ये तीनों पापके भागी नहीं किन्तु पुण्यके भागी है।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥ ५२ ॥

भावार्थ-एक कोई थोडी हिंसा करे तौ भी वह हिंसा विपाकमें बहुत फल देती है। जैसे किसीने बडे ही कठोर भाव मच्छीको मार डाला, इससे तीव्र कषाय होनेसे बहुत पापका होगा। दूसरे किसीने युद्धमें अपनी निन्दा करते हुए इस युद्ध को मन्द भावसे करते हुए बहुत शत्रुओंका विनाश किया तो कषाय मन्द होनेसे कम पाप कर्मका बंध होगा।

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥७२॥

भावार्थ-जो आदमियोंने साथ साथ किसी हिंसाकी क्रिया है। एकको वह तीव्र फलको देती है दूसरेको वही हिंसा अल्प फल देती है। जैसे दो आदमियोंने मिलकर एक पशुका बध किया। इनमेंसे एकके बहुत कठोर भाव थे। उससे उसने तीव्र पाप बांधा। दूसरेके भावोंमें इतनी कठोरता न थी, वह जीवदयाको अच्छा समझता था, परंतु उस समय उस मनुष्यकी बातोंमें आकर उसके साथ शामिल हो गया इसलिए दूसरा पहलेकी अपेक्षा कम कर्मबंध करेगा।

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ॥ ७४ ॥

भावार्थ किसी जीवने एक पशुकी रक्षा की। दूसरा देखकर यह विचारता है कि मैं तो कभी नहीं छोडता—अवश्य मार डालता। वश ऐसा जीव अहिंसासे हिंसाके फलका भागी हो जाता है। कोई जीवकी हिंसाके द्वारा अहिंसाके फलका भागी हो जाता है जैसे कोई किसीको सता रहा है दूसरा देखकर करुणाबुद्धि ला रहा है बस उसके अहिंसाका फल प्राप्त होगा अथवा जीवोंके जो दृष्टांत यह भी हो सकते हैं कि किसीने किसीको कालान्तरमें भारी कष्ट देनेके लिये अभी किसी दूसरेके आक्रमणसे उसको बचालिया। यद्यपि वर्तमानमें अहिंसा की परंतु हिंसात्मक भावोंसे वह हिंसाके फलका भागी ही होगा। तथा कोई किसीको किसी अपराधके कारण इसलिये दंड दे [illegible] यह सुधर जावे व धर्म मार्गपर चले ऐसी स्थितिमें [illegible] हिंसा भी वह अहिंसाके फलका भागी

(बंधो ध्रुव) बंध निश्चयसे होता ही है (इदि) इसी लिये (समणा) साधु ओने (सव्वं) सर्व परिग्रहको (छड्डिया) छोड दिया ।

विशेषार्थ–साधुओंने व महाश्रमण सर्वज्ञोंने पहले दीक्षा कालमें शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव मई अपने आत्माको ही परिग्रह मानके शेष सर्व बाह्य अभ्यंतर परिग्रहको छोड दिया। ऐसा जान कर अन्य साधुओंको भी अपने परमात्मस्वभावको ही अपनी परिग्रह स्वीकार करके शेष सब ही परिग्रहको मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग देना चाहिये। यहां यह कहा गया है कि शुद्ध चैतन्यरूप निश्चय प्राणका घात जब राग द्वेष आदि परिणामरूप निश्चयहिंसासे किया जाता है तब नियमसे बन्ध होता है। पर जीवके घात होजाने पर बंध हो वा न भी हो, नियम नहीं है, किन्तु परद्रव्यमें ममतारूप मूर्छा–परिग्रहसे तो नियमसे बंध होता ही है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह बात स्पष्ट खोल दी है कि मात्र शरीरकी क्रिया होनेसे यदि किसी जंतुका बध होजावे तो बंध होय ही गा यह नियम नहीं है अर्थात् बाहरी प्राणियोंके घात होने मात्रसे कोई हिंसाके पापका भागी नहीं होता है। जिसके अप्रमाद भाव है, भीतरबाहरी सावधानता है या शुद्ध वीतराग भाव है उसके बाहरी हिंसा शरीरद्वारा होनेपर भी कर्म बंध नहीं होगा। तथा जिस साधुके उपयोगमें रागादि प्रवेश हो जायगे और वह जीव रक्षामें असावधान या प्रमादी हो जायगा तो उसके अवश्य पापबंध होगा, क्योंकि बन्ध अन्तरङ्ग कषायके निमित्तसे होता है।

परिग्रहका त्याग साधु क्यों करते हैं इसका हेतु यह बताया है कि विना इच्छाके बाहरी क्षेत्र वास्तु, धन, धान्य, वस्त्रादि वस्तु ओंको कौन रख सक्ता है उठा सक्ता है व लिये २ फिर सक्ता है। अर्थात इच्छाके विना परद्रव्यका सम्बन्ध हो ही नहीं सक्ता। इसलिये इच्छाका कारण होनेसे साधुओंने दीक्षा लेते समय सर्व ही बाह्य दस प्रकार परिग्रहका त्याग कर दिया। तथा अन्तरङ्ग चौदह प्रकार भाव परिग्रहसे भी ममत्व छोड दिया अर्थात् मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुवेद, नपुंसकवेदमें भी अत्यन्त उदासीन होगए। जहां इन २४ प्रकारकी परिग्रहका सम्बन्ध है वहां अवश्य बन्ध होगा।

यद्यपि शरीर भी परिग्रह है परन्तु शरीरका त्याग हो नहीं सक्ता। शरीर आत्माके रहनेका निवासस्थान है तथा शरीर संयम व तपका सहकारी है। मनुष्य देहकी सहाय विना चारित्र व ध्यानका पालन हो नहीं सक्ता इसलिये उसके सिवाय जिन जिन पदार्थोंको जन्मनेके पीछे माता पिता व जनसमूहके द्वारा पाकर उनको अपना मानकर ममत्व किया था उनका त्याग देना शक्य है इसीलिये साधु वस्त्रमात्रका भी त्याग कर देते हैं। क्योंकि एक लंगोटीकी रक्षा भी परिणामोंमें ममता उत्पन्न कर बन्धका कारण होती है।

अन्तरङ्ग भावोंका त्यागना यही है कि मैं इन मिथ्यात्व व क्रोधादिकोंको परभाव मानता हूं-इनसे भिन्न अपना शुद्ध चेतन्य भाव है ऐसा निश्चय करता हूं। तथा साधु अंतरंगमें क्रोधादि न

शुद्धोपयोग रूप अंतरंग संयमका घात परिग्रहरूप मूर्छा भावसे होता है इसलिये परिग्रह नियमसे बंधका कारण है। इसीलिये चक्रवर्ती व तीर्थंकरोंने सर्व गृहस्थ अवस्थाकी परिग्रहको त्यागकर ही मुनिपदको धारण किया । जिस बंधके छेदके लिये ध्यानरूपी खड्ग लेकर साधुपद धारण किया उस बंधरूपी शत्रुके आगमनके कारण परिग्रहका त्याग अवश्य करना ही योग्य है ।

वास्तवमें परिग्रहरूप ममत्वभाव ही बंधका कारण है। वीतराग भाव होते हुए बाहरी किसी प्राणीकी हिंसा होते हुए भी भाव हिंसाके बिना हिंसाका पाप बंध नहीं होगा । इसलिये आचार्यने इस सूत्रमें यह बताया है कि सर्व परिग्रहका त्याग करना साधुके लिये प्रथम कर्तव्य है । पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें कहा है —

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति ।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ॥ ११८ ॥
हिंसापर्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु ।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वम् ॥ ११९ ॥

भावार्थ—जिनवाणीके ज्ञाता आचार्योंने यह सूचित किया है कि अंतरङ्ग बहिरंग परिग्रहका त्याग अहिंसा है तथा इन दोनों तरहकी परिग्रहका लेना हिंसा है । अंतरंगके परिग्रहोंमें हिंसाकी ही पर्यायें हैं अर्थात् भाव हिंसाकी ही अवस्थाएं हैं तथा बाहरी परिग्रहोंमें नियमसे मूर्छा आती ही है सो ही हिंसापना है । मूर्छाका कारण होनेसे बाहरी परिग्रह भी त्यागने योग्य है ।

पं० आशाधरजी अनगारधर्मामृतमें कहते हैं—

परिमुच्य करणगोचरमरीचिकामुज्झिताखिलारम्भ ।
त्याज्य ग्रन्थमशेष त्यक्त्वा परनिर्मम स्वशर्मं भजेत् ॥ १०६ ॥

भावार्थ–साधुको कर्तव्य है कि वह इंद्रियसुखको मृगतृष्णाके समान जानके छोड़दे व सर्व प्रकार आरम्भका त्याग करदे और सर्व धनधान्यादि परिग्रहको छोड़कर जिस शरीरको छोड़ नहीं सक्ता उसमें ममता रहित होकर आत्मीकसुखका भोग करे। वास्तवमें शुद्धोपयोगकी परिणतिके लिये परकी अभिलाषाका त्याग अत्यन्त आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि निज भावोंकी भूमिकाको परम शुद्ध रखना ही बन्धके अभावका हेतु है ॥ २१ ॥

इस तरह भाव हिंसाके व्याख्यानकी मुख्यतासे पांचवें स्थलमें छ गाथाएं पूर्ण हुईं। इस तरह पहले कहे हुए क्रमसे–"एव पणमिय सिद्धे" इत्यादि २१ इकईस गाथाओंसे ५ स्थलोंके द्वारा उत्सर्गचारित्रका व्याख्याननामा प्रथम अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–अब आगे चारित्रका देशकालकी अपेक्षासे अपहृत संयमरूप अपवादपना समझानेके लिये पाठके क्रमसे ३० तीस गाथाओंमें दूसरा अन्तराधिकार प्रारम्भ करते हैं। इसमें चार स्थल हैं।

पहले स्थलमें निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गकी स्थापनाकी मुख्यतासे "णहि णिरवेक्खो चाओ" इत्यादि गाथाएं पाच हैं। इनमेंसे तीन गाथाएं श्री अमृतचन्द्रकृत टीकामें नहीं हैं। फिर सर्व पापके त्यागरूप सामायिक नामक संयमके पालनेमें असमर्थ यतियोंके लिये संयम, शौच व ज्ञानका उपकरण होता है। उसके निमित्त अपवाद व्याख्यानकी मुख्यतासे "छेदो जेण ण विज्जदि" इत्यादि सूत्र

तीन हैं । फिर स्त्रीको तद्भव मोक्ष होती है इसके निराकरणकी प्रधानतासे 'पच्छदि णहि इह लोग' इत्यादि ग्यारह गाथाएं हैं । ये गाथाएं श्री अमृतचन्द्रकी टीकामें नहीं हैं । इसके पीछे सर्व उपेक्षा संयमके लिये जो साधु असमर्थ है उसके लिये देश व कालकी अपेक्षासे इस संयमके साधक शरीरके लिये कुछ दोष रहित आहार आदि सहकारी कारण ग्रहण योग्य हैं । इससे फिर भी अपवादके विशेष व्याख्यानकी मुख्यतासे ''उवयरण जिणमग्गे'' इत्यादि ग्यारह गाथाएं हैं, इनमेंसे भी उस टीकामें ४ गाथाएं नहीं हैं । इस तरह मूल सूत्रोंके अभिप्रायसे तीस गाथाओंसे तथा अमृतचन्द्र कृत टीकाकी अपेक्षासे बारह गाथा ओंसे दूसरे अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका है ।

अब कहते हैं कि जो भावोंकी शुद्धिपूर्वक बाहरी परिग्रहका त्याग किया जावे तो अभ्यंतर परिग्रहका ही त्याग किया गया ।

णहि णिरवेक्खो चाओ ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी ।
अविसुद्धस्स य चित्ते कह णु कम्मक्खओ विहिओ ॥ २२ ॥

नहि निरपेक्षस्त्यागो न भवति भिक्षोराशयविशुद्धिः ।
अविशुद्धस्य च चित्ते कथं नु कर्मक्षयो विहितः ॥ २२

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(णिरवेक्खो) अपेक्षा रहित (चाओ) त्याग (णहि) यदि न होवे तो (भिक्खुस्स) साधुके (आसयविसुद्धी ण हवदि) आशय या चित्तकी विशुद्धि नहीं होवे। (य) तथा (अविसुद्धस्स चित्ते) अशुद्ध मनके होनेपर (कह णु) किस तरह (कम्मक्खओ) कर्मोंका क्षय (विहिओ) उचित हो अर्थात् न हो ।

विशेषार्थ—यदि साधु सर्वथा ममता या इच्छा त्यागकर सर्व परिग्रहका त्याग न करे किन्तु यह इच्छा रक्खे कि कुछ भी वस्त्र या पात्र आदि रख लेने चाहिये, तो अपेक्षा सहित परिणामोंके होनेपर उस साधुके चित्तकी शुद्धि नहीं हो सकी है। तब जिस साधुका चित्त शुद्धात्माकी भावना रूप शुद्धिसे रहित होगा उस साधुके कर्मोंका क्षय होना किस तरह उचित होगा अर्थात् उसके कर्मोंका नाश नहीं होसक्ता है।

इस कथनसे यह भाव प्रगट किया गया है कि जैसे बाहरका तुष रहते हुए चावलके भीतरकी शुद्धि नहीं की जासक्ती। इसी तरह विद्यमान परिग्रहमें या अविद्यमान परिग्रहमें जो अभिलाषा है उसके होते हुए निर्मल शुद्धात्माके अनुभवको करनेवाली चित्तकी शुद्धि नहीं की जासक्ती है। जब विशेष वैराग्यके होनेपर सर्व परिग्रहका त्याग होगा तब भावोंकी शुद्धि अवश्य होगी ही, परन्तु यदि प्रसिद्धि, पूजा या लाभके निमित्त त्याग किया जायगा तो भी चित्तकी शुद्धि नहीं होगी।

जिसके भावोंमें कुछ भी ममत्व होगा वही शरीरकी ममता पे नेको वस्त्रादि परिग्रह रक्खेगा । ममता सहित साधु शुद्धोप न होता हुआ कर्म बंध करेगा न कि कर्मोंका क्षय करेगा । शुद्ध निर्ममत्व भाव है वही कर्मोंका क्षय होसक्ता है ।

साधुपदमें बाहरी परिग्रह व ममता रखना बिलकुल व है क्योंकि इस बाहरी परिग्रहकी इच्छासे अन्तरंगकी अशुद्ध नहीं कट सक्ता । जैसे चावलके भीतरका छिल्का उसी समय होगा जब उसके बाहरके तुषको निकालकर फेंक दिया जावे बाहरकी परिग्रह रखते हुए अन्तरंग रागभावका त्याग नहीं सक्ता इसलिये बाहरी परिग्रहका अवश्य त्याग कर देना चाहिये इच्छा विना कौन वस्त्र ओढ़ेगा, पहनेगा धोवेगा, सुखावेगा ऐ इच्छा गृहस्थके होतीही परन्तु साधु महात्माके लिये ऐसी इच्छ सर्वथा अनुचित है, क्योंकि शुद्धोपयोगमें रमनेवालेको सर्व परपद थोंका त्याग इसीलिये करना उचित है कि भावोंमें वैराग्य, शा और शुद्धात्माका विकाश हो ।

श्री अमितगति आचार्यने बृहत् सामायिकपाठमें कहा है-

सद्रत्नत्रयपोषणाय वपुरस्त्याज्यस्य रक्षा परा,
दत्त येऽशनमात्रक गतमलं धर्मार्थिभिर्दातृभिः ।
लज्जन्ते परिगृह्य मुक्तिविषये बद्धस्पृहा निस्पृहा-
स्ते गृण्हन्ति परिग्रहं दमधरा किं संयमध्वंसकं ॥१०४॥

भावार्थ-जो साधु सम्यग्रत्नत्रयकी पुष्टिके लिये त्यागने योग्य शरीरकी रक्षा मात्र करते हैं, तथा जो जितेंद्रिय साधु परम वैरागी होते हुए केवल मुक्तिकी ही भावनामें मग्न हैं और जो धर्मात्मा दातारोंसे दिये हुए शुद्ध भोजन मात्रको लेकर लज्जा

मानते हैं वे साधु किस तरह संयमकी घात करनेवाली किसी परिग्रहको ग्रहण कर सके हैं।

श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

रागादिवर्द्धनं सङ्गं परित्यज्य दृढव्रताः।
धीरा निर्मलचेतस्काः तपस्यन्ति महाधियः। २२३।
संसारोद्विग्नचित्तानां निःश्रेयससुखैषिणाम्।
सर्वसङ्गनिवृत्तानां धन्यं तेषां हि जीवितम्॥ २२४॥

भावार्थ—महा बुद्धिवान, दृढव्रती, धीर और निर्मल चित्त-धारी साधु रागद्वेषादिको बढानेवाली परिग्रहको त्यागकर तपस्या करते हैं। जिनका चित्त संसारमें वैरागी है, जो मोक्षके आनंदके पिपासु हैं जो सर्व परिग्रहसे अलग हैं उनका जीवन धन्य है॥२२

उत्थानिका—आगे इसही परिग्रहके त्यागको दृढ करते हैं।

गेण्हदि व चेलखंडं भायणमत्थित्ति भणिदमिह सुत्ते।
जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो॥ २३॥
वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं।
विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि॥ २४॥
गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता।
पत्थं च चेलखंडं बिभेदि परदो य पालयदि॥ २५॥

गृह्णाति वा चेलखण्डं भाजनमस्तीति भणितमिह सूत्रे।
यदि सो त्यक्तालम्बो भवति कथं वा अनारंभः॥ २३
वस्त्रखण्डं दुग्धिकाभाजनमन्यच्च गृह्णाति नियतं।
विद्यते प्राणारंभो विक्षेपो तस्य चित्ते॥ २४
गृह्णाति विधुनोति धौति शोषयति यत्नं तु आतपे क्षिप्त्वा।
पात्रं च चेलखण्डं बिभेति परतश्च पालयति॥ २५

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(यदि) यदि (इह मुत्ते) इस विशेष सूत्रमें (णेच्छइ गेण्हदि) मात्र वस्त्र मात्रको स्वीकार करता है (व भायण अत्थित्ति भणिदम्) या उसके भिक्षा पात्र होता है ऐसा कहा गया है तो (सो) वह पुरुष निरालम्ब परमात्माके तत्वकी भावनासे शून्य होता हुआ (कह) किस तरह (वत्ताळक्षो) बाहरी द्रव्यके आरम्भ रहित (हवदि) होसक्ता है? अर्थात् नहीं होसक्ता (वा अणारम्भो) अथवा किस तरह क्रिया रहित व आरम्भ रहित निज आत्मतत्वकी भावनासे रहित होकर आरम्भमें शून्य होसक्ता है? अर्थात् आरम्भ रहित न होकर आरम्भ सहित ही होता है। यदि वह (वत्थखण्ड) वस्त्रके टुकड़ेको (दुद्दियभायण) दूधके लिये पात्रको (अण्ण च गेण्हदि) तथा अन्य किसी कम्बल या मुलायम शय्या आदिको ग्रहण करता है तो उसके (णियद) निश्चयसे (पाणारम्भो विज्जदि) अपने शुद्ध चैतन्य रूप प्राणोंका विनाश रूप अथवा प्राणियोंका वध रूप प्राणारम्भ होता है तथा (तस्स चित्तम्मि विक्खेवो) उस क्षोभ रहित चित्तरूप परम योगसे रहित परिग्रहवान पुरुषके चित्तमें विक्षेप होता है या आकुलता होता है। वह यती (पत्थ च चेलखण्ड) भाजनको या वस्त्रखण्डको (गेण्हई) अपने शुद्धात्माके ग्रहणसे शून्य होकर ग्रहण करता है, (विहुणइ) कर्म धूलको झाड़ना छोड़कर उसकी बाहरी धूलको झाडता है, (धोवइ) निज परमात्मतत्वमें मल उत्पन्न करनेवाले रागादि मलको छोड़कर उनके बाहरी मैलको धोता है (आदवे खित्ता सोसइ) और निर्विकल्प ध्यानरूपी धूपमें समाधानीको नहीं सुखाता हुआ असावधान होकर उसे धूपमें डालकर सुखाता है (परदो य रिक्खेदि)

और निर्भय शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनासे शून्य होकर दूसरे चोर आदिकोंसे भय करता है (पालयदि) तथा परमात्मभावनाकी रक्षा छोड़कर उनकी रक्षा करता है।

भावार्थ—यदि कोइ कहे हमारे शास्त्रमें यह बात कही है कि साधुको वस्त्र ओढ़ने बिछानेको रखने चाहिये या दूध आदि भोजन लेनेके लिये पात्र रखना चाहिये तो उसके लिये आचार्य दूषण देते हैं कि यदि कोई महाव्रतोंका धारी साधु होकर जिसने आरम्भजनित हिंसा भी त्यागी है व सर्व परिग्रहके त्यागकी प्रतिज्ञा ली है ऐसा करे तो वह पराधीन व आरम्भवान हो जावे उसको वस्त्रके आधीन रहकर परीसहोंके सहनेमें व घोर तपस्याके करनेमें उदासीन होना हो तथा उसको उन्हें उठाने, धरते, साफ करते, आदिमें आरम्भ करना हो वस्त्रको झाड़ने, धोते, सुखाने, अवश्य प्राणियोंकी हिंसा करनी पड़े तब अहिंसाव्रत न रहे उनकी रक्षाके भावसे चोर आदिसे भय बना रहे तब भय परिग्रहका त्याग नहीं हुआ इत्यादि अनेक दोष आते हैं। वास्तवमें जो सर्व आरम्भ व परिग्रहका त्यागी है वह शरीरकी ममताके हेतुसे किसी परिग्रहको नहीं रख सक्ता है। पीछी कमण्डल तो जी तथा और शौचके उपकरण हैं उनको संयमकी रक्षार्थ रखना होता है सो वे भी मोर परके व काठके होते हैं उनके लिये कोइ रक्षाका भय नहीं करना पड़ता है, न उनके लिये कोइ आरम्भ करना पड़ता है, परन्तु वस्त्र तो शरीरकी ममतासे व भोजन पात्र भोजनके हेतुसे ही रखना पड़ेंगे फिर इन वस्त्रादिके लिये चिंता व अनेक आरम्भ करना पड़ेंगे इसलिये साधुओंको रखना उचित नहीं है। जो वस्त्र रखता

हैं उसके नग्न परीसह, डांस मच्छर परीसह, शीत व उष्ण परी पहका सहना नहीं बन सक्ता है। जहांतक वस्त्रकी आवश्यक्ता हो वहांतक श्रावकोंका चारित्र पालना चाहिये। जिन लिंग तो नग्न रूपमें ही है। जिसके चित्तमें परम निर्ममत्व भाव जग जावे वही वस्त्रादि त्याग दिगम्बर साधु हो पूर्ण अहिंसादि पांच महाव्रतोंको पालकर सिद्ध होनेका यत्न करे ऐसा भाव है ॥२३–२४–२५॥

उत्थानिका–आगे आचार्य कहते हैं कि जो परिग्रहवान है उसके नियमसे चित्तकी शुद्धि नष्ट होजाती है —

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरम्भो वा असंजमो तस्स ।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥ २६ ॥

कथं तस्मिन्नास्ति मूर्छा आरम्भो वा असंयमस्तस्य ।
तथा परद्रव्ये रतः कथमात्मानं प्रसाधयति ॥ २६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(तम्हि) उस परिग्रह सहित साधुमें (किध) किस तरह (मुच्छा) परद्रव्यकी ममतासे रहित चैतन्यके चमत्कारकी परिणतिसे भिन्न मूर्छा (वा आरम्भो) अथवा मन वचन कायकी क्रिया रहित परम चैतन्यके भावमें विघ्नकारक आरम्भ (णत्थि) नहीं है किन्तु है ही (तस्स असंजमो) और उस परिग्रहधारीके शुद्धात्माके अनुभवसे विलक्षण असंयम भी किस तरह नहीं है किन्तु अवश्य है (तध) तथा (परदव्वम्मि रदो) अपने आत्मा द्रव्यसे भिन्न परद्रव्यमें लीन होता हुआ (कधमप्पाणं पसाधयदि) किस तरह अपने आत्माकी साधना परिग्रहवान पुरुष कर सक्ता है अर्थात् किसी भी तरह नहीं कर सक्ता है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि जिसके पास रञ्चमात्र भी वस्त्रादिकी परिग्रह होगी उसको उसमें मूर्छा अवश्य होगी तथा उसके लिये कुछ आरम्भ भी करना पड़ेगा। इच्छा या आरम्भजनित हिंसा होनेसे असयम भी हो जायगा। साधुको अहिंसा महाव्रत पालना चाहिये सो न पल सकेगा तथा परद्रव्यमें रति होनेसे आत्मामें शुद्धोपयोग न हो सकेगा, जिसके विना कोई भी साधु मोक्षका साधन नहीं कर सक्ता। इस तरह साधुके लिये रचमात्र भी परिग्रह ममताका कारण है जो सर्वथा त्यागने योग्य है।

वस्त्रादि परिग्रहके निमित्तसे अवश्य उनके उठाने, धरने झाड़ने, धोने, सुखानेमें आरम्भी हिंसा होगी इससे सावद्य कर्म हो जायगा। साधुको पापास्रवके कारण सावद्य कर्मका सर्वथा त्याग है। ऐसा ही श्री मूलाचार अनगारभावना अधिकारमें कहा है —

तणरुक्खहरिच्छेदणतयपत्तपवालकंदमूलाइं।
फलपुप्फबीयघादं ण करिंति मुणी ण कारिंति ॥ ३५ ॥
पुढवीय समारंभं जलपवणग्गीतसाणमारम्भं।
ण करेंति ण कारेंति य कारेंतं णाणुमोदंति ॥ ३६ ॥

भावार्थ—मुनि महाराज तृण, वृक्ष, हरितघासादिका छेदन नहीं करते न कराते हैं, न छाल, पत्र, प्रवाल, कंदमूलादि फल फूल बीजका घात करते न कराते हैं, न वे पृथ्वी, जल, पवन, अग्नि अथवा त्रस घातका आरंभ करते हैं न कराते हैं, न इसकी अनुमोदना करते हैं। पात्रकेशरी स्तोत्रमें श्री विद्यानंदजी स्वामी कहते हैं —

जिनेश्वर ! न ते मत पटकवस्त्रपात्रग्रहो,
विमृश्य सुखकारण स्वयमशक्तकैः कल्पितः ।
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद्वृथा नग्नता,
न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते ॥ ४१ ॥
परिग्रहवता मता भयमवश्यमापद्यते,
प्रकोपपरिहिंसने च परुषानृतव्याहृतो ।
ममत्वमथ चोरतो स्वमनसश्च विभ्रान्तता,
कुतो हि कलुषात्मना परमशुक्लसद्ध्यानता ॥ ४२ ॥

भावार्थ—हे जिनेश्वर ! आपके मतमें ऊन व कपास व रेशमके वस्त्र व वर्तनका ग्रहण साधुके लिये नहीं माना गया है। जो लोग अशक्त हैं उन्होंने इनको शरीरके सुखका कारण जानकर साधुके लिये कल्पित किया है। यदि यह परिग्रह सहित पना भी मोक्ष मार्ग हो जावे तो फिर आपके मतमें नग्नपना धारण वृथा होगा क्योंकि जब नीचे खड़े हुए हाथोंसे ही वृक्षका फल मिल सके तब कौन ऐसा है जो वृथा वृक्षपर चढ़ेगा।

जिनके पास परिग्रह होगी उनको चोर आदिका भय अवश्य होगा और यदि कोई चुरा लेगा तो उसपर क्रोध व उसकी हिंसाका भाव आएगा तथा कठोर व असत्य वचन बोलना होगा तथा उस पदार्थपर ममता रहेगी। कदाचित् अपना अभिप्राय किसीकी वस्तु विना दिये लेनेका हो जायगा तो अपने मनमें उसके निमित्तसे क्षोभ होगा व आकुलता बढ़ेगी ऐसा होनेपर जिनके मनमें कलुपता या मैलापन हो जायगा उनके परम शुक्लध्यानपना किस तरह हो सकेगा?

इस लिये यही यथार्थ है कि परिग्रहवानके चित्तकी शुद्धि नहीं हो सक्ती है ॥ २६ ॥

इस तरह श्वेताम्बर मतके अनुसार माननेवाले शिष्यके संबोधनके लिये निर्ग्रंथ मोक्षमार्गके स्थापनकी मुख्यतासे पहले स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुई।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि किसी कालकी अपेक्षासे जब साधुकी शक्ति परम उपेक्षा संयमके पालनेकी न हो तब वह आहार करता है, संयमका उपकरण पीछी व शौचका उपकरण कमंडल व ज्ञानका उपकरण शास्त्रादिको ग्रहण करता है ऐसा अपवाद मार्ग है।

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥ २७ ॥

छेदो येन न विद्यते ग्रहणविसर्गेषु सेवमानस्य।
श्रमणस्तेनेह वर्त्ततां कालं क्षेत्रं विज्ञाय ॥ २७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जेण गहण विसग्गेसु सेवमाणस्स) जिस उपकरणके ग्रहण करने व रखनेमें उस उपकरणके सेवनेवाले साधुके (छेदो ण विज्जदि) शुद्धोपयोगमई संयमका घात न होवे (तेणिह समणो कालं खेत्तं वियाणित्ता वट्टदु) उसी उपकरणके साथ इसलोकमें साधु क्षेत्र और कालको जानकर वर्तन करे।

विशेषार्थ-यहां यह भाव है कि कालकी अपेक्षा पंचमकाल या शीत उष्ण आदि ऋतु, क्षेत्रकी अपेक्षा मनुष्य क्षेत्र या नगर जंगल आदि इन दोनोंको जानकर जिस उपकरणसे स्वसंवेदन लक्षण भाव संयमका अथवा बाहरी द्रव्य संयमका घात न होवे उस तरहसे मुनिको वर्तना चाहिये।

भावार्थ-उत्सर्ग मार्ग वह है जहां शुद्धोपयोग रूप परम सामायिक भावमें रमणता है । वहांपर शरीर मात्रका भी किंचित् ध्यान नहीं है । वास्तवमें यही भाव मुनि लिंग है, परन्तु इस तरह लगातार वर्तन होना दीर्घ कालतक सभव नहीं है । इसलिये वीतराग सयमसे हटकर सराग सयममें साधुको आना पड़ता है । सराग सयमकी अवस्थामें साधुगण अपने शुद्धोपयोगके सहकारी ऐसे उपकरणोंका ही व्यवहार करते हैं । शरीरको जीवित रखनेके लिये उसे निर्दोष आहार देते हैं । बैठने, उठने, धरते आदि कामोंमें जीवरक्षाके हेतु पीछीका उपकरण रखते हैं । शरीरका मल त्याग करनेके लिये और स्वच्छ होनेके लिये कमडल जल सहित रखते हैं तथा ज्ञानकी वृद्धिके हेतु शास्त्र रखते हैं । इन उपकरणोंसे सयमकी रक्षा होती है । शास्त्रोपदेश करना, ग्रन्थ लिखना, विहार करना आदि ये सब कार्य सरागसयमकी अवस्थाके हैं । इसी कारक वर्तनको ' अपवाद मार्ग ' कहते हैं । वास्तवमें साधुओंके अप्रमत्त और प्रमत्त गुणस्थान पुन पुन आता जाता रहता है । इनमेंसे हरएककी स्थिति अतर्मुहूर्तसे अधिक नहीं है । जब साधु अप्रमत्त गुणस्थानमें रहते तब वीतराग सयमी व उत्सर्ग मार्गी होते और जब प्रमत्त गुणस्थानमें आते तब सराग सयमी व अपवादमार्गी होते हैं । साधुको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर जिसमें सयमकी रक्षा हो उस तरह वर्तन करना चाहिये । कहा है-मूलाचार समसार अधिकारमें-

> दव्व खेत्त काल भाव सत्ति च सुट्ठु णाऊण।
> झाणज्झयण च तहा साहू चरणं समाचरउ ॥११४॥

साधुको योग्य है कि द्रव्य आहार शरीरादि, क्षेत्र जगल आदि, काल शीत उष्णादि, भाव अपने परिणाम इन चारोंसे भली प्रकार देखकर तथा अपनी शक्ति व ध्यान या ग्रथ पठनकी योग्यता देखकर आचरण करें ॥ २७ ॥

उत्थानिका—आगे पूर्व गाथामें जिन उपकरणोंको साधु अप वाद मार्गमें काममें लेसक्ता है उनका स्वरूप दिखलाते हैं।

अप्पडिकुट्ठ उवधिं अपत्थणिज्जं असजदजणेहिं ।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदिवियप्प ॥ २८ ॥

अप्रतिकुष्टमुपधिमप्रार्थनीयमसयतजनैः ।
मूर्छादिजननरहितं गृह्णातु श्रमणो यद्यप्यल्पम् ॥२८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(समणो) साधु (उवधिं) परिग्रहको (अप्पडिकुट्ठ) जो निषेधने योग्य न हो, (असजदजणेहिं अपत्थणिज्ज) असयमी लोगोंके द्वारा चाहने योग्य न हो (मुच्छादिजणणरहिदं) व मूर्छा आदि भावोंको न उत्पन्न करे (जदिवियप्प) यद्यपि अल्प हो गेण्हदु) ग्रहण करें।

विशेषार्थ—साधु महाराज ऐसे उपकरणरूपी परिग्रहको ही ग्रहण करें जो निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गमें सहकारी कारण होनेसे निषिद्ध न हो, जिसको वे असयमी जन जो निर्विकार आत्मानुभवरूप भाव सयमसे रहित हैं कभी मागे नहीं न उसकी इच्छा करें, तथा जिसके रखनेसे परमात्मा द्रव्यसे विलक्षण बाहरी द्रव्योंमें ममतारूप मूर्छा न पैदा हो जावे न उसके उत्पन्न करनेका दोष हो न उसके सस्कारसे दोष उत्पन्न हो। ऐसे परिग्रहको यदि रक्खें तौ भी बहुत थोडी रक्खें। इन लक्षणोंसे [illegible] ह न लेवें।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने जिन उपकरणोंको अपवाद मार्गमें साधु ग्रहण कर सक्ता है उनका लक्षण मात्र बता दिया है। पहला विशेषण तो यह है कि वह रागद्वेष बनाकर पाप बंध करानेवाला न हो। दूसरा यह है कि उसको कोई भी असंयमी गृहस्थ चोर आदि कभी लेना न चाहे। तीसरा विशेष यह है कि उसके रक्षण आदिमें मूर्छा या ममता न पैदा हो। ऐसे उपकरणोंको मात्र संयमकी रक्षाके हेतुसे ही जितना अल्प हो उतना रखना चाहिये। इसी लिये साधु मोरपिच्छिका तो रखते परन्तु उसको चांदी सोनेमें जड़ाकर नहीं रखते। केवल वह मामूली दृढ बन्धनोंसे बधा हो ऐसी पीछी रखते, कमंडल धातुका नहीं रखते काठका कमंडल रखते, उसकी कौन मनुष्य इच्छा करेगा? तथा शास्त्र भी पढ़ने योग्य एक कालमें आवश्यक्तानुसार थोड़े रखते सो भी मामूली बन्धनमें बंधे हों। चांदी सोनेका सम्बन्ध न हो। साधु इन वस्तुओंको रखते हुए कभी यह भय नहीं करते कि ये वस्तुएं न रहेंगी तो क्या करूंगा? इनसे भी ममत्व रहित रहते। ये वस्तुएं असंके लोगोंकी इच्छा बढ़ानेवाली नहीं, तिसपर भी यदि कोई उठा लेजावे तो मनमें कुछ भी खेद नहीं मानते, जबतक दूसरा कोई श्रावक लाकर भक्तिपूर्वक अर्पण न करेगा तबतक साधु मौनी रहकर ध्यानमें मग्न रहेगा।

इससे विपरीत जो शंका उत्पन्नवाले उपकरण हैं उन्हें साधुको कभी नहीं रखना चाहिये। मूलाचार अनगारभावनामें कहा है-

लिंगं वदं च सुद्धी वसदिविहारं च भिक्ख णाणं च।
उज्झण सुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तधा झाणं ॥ ३ ॥

भावार्थ-साधुको इतनी शुद्धियां पालनी चाहिये। (१) लिंग शुद्धि-निर्ग्रन्थ सर्व सम्कारसे रहित वस्त्ररहित शरीर हो, लोंच किये हो, पीछी कमंडल सहित हों। (२) व्रतशुद्धि-अतीचार रहित अहिंसादि पांच व्रतोंको पालते हों। (३) वसतिशुद्धि-स्त्री पशु नपुंसक रहित स्थानमें ठहरें जहां परम वैराग्य हो सके। (४) विहारशुद्धि-चारित्रके निर्मल करनेके लिये योग्य देशोंमें विहार करते हों। (५) भिक्षाशुद्धि-भोजन दोषरहित ग्रहण करते हों। (६) ज्ञानशुद्धि-शास्त्रज्ञान व पदार्थज्ञान व आत्मज्ञानमें संशयरहित परिपक्व हों। (७) उज्झनशुद्धि-शरीरादिमें ममताके त्यागमें दृढ हों। (८) वाक्यशुद्धि-विकथारहित शास्त्रोक्त मृदु व हितकारी वचन बोलते हों। (९) तपशुद्धि-बारह प्रकार तपको मन लगाकर पालते हों। (१०) ध्यानशुद्धि-ध्यानके भले प्रकार अभ्यासी हों।

इन शुद्धियोंमें विघ्न न पडके सहायकारी जो उपकरण हों उन्हींको अपवाद मार्गी साधु ग्रहण करेगा। वस्त्र व भोजनपात्रादि नहीं॥२८॥

उत्थानिका-आगे फिर आचार्य यही कहते हैं कि सर्व परिग्रहका त्याग ही श्रेष्ठ है। जो कुछ उपकरण रखना है वह अशक्यानुष्ठान है-अपवाद है—

किं किंचणत्ति तक्क अपुणब्भवकामिणोध देहोवि।
संगत्ति जिणवरिंदा अप्पडिकम्मत्तिमुद्दिट्ठा॥ २९॥

किं किंचनमिति तर्कः अपुनर्भवकामिनोथ देहोपि।
संग इति जिनवरेन्द्रा अप्रतिकर्मत्वमुद्दिष्टवन्तः॥ २९॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(अध) अहो (अपुणब्भवकामिणो) पुनः भवरहित ऐसे मोक्षके इच्छुक साधुके (देहोवि) शरीर

मात्र भी (सगत्ति) परिग्रह है ऐसा जानकर (जिणवरिंदा) जिन वरेंद्रोंने (अप्पडिकम्मत्तिम्) ममता रहित भावको ही उत्तम (उद्दिट्ठा) कहा है (किं किंचनत्ति तक्क) ऐसी दशामें साधुके क्या २ परिग्रह हैं यह मात्र एक तर्क ही है अर्थात् अन्य उपकरणादि परिग्रहका विचार भी नहीं होसक्ता।

विशेषार्थ—अनन्तज्ञानादि चतुष्टयरूप जो मोक्ष है उसकी प्राप्तिके अभिलाषी साधुके शरीर मात्र भी जब परिग्रह है तब और परिग्रहका विचार क्या किया जा सक्ता है। शुद्धोपयोग लक्षणमई परम उपेक्षा संयमके बलसे देहमें भी कुछ प्रतिकर्म अर्थात् ममत्व नहीं करना चाहिये तब ही वीतराग संयम होगा ऐसा जिनेन्द्रोंका उपदेश है। इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि मोक्ष सुखके चाहनेवालोंको निश्चयसे शरीर आदि सब परिग्रहका त्याग ही उचित है। अन्य कुछ भी कहना सो उपचार है।

भावार्थ—इस गाथाका भाव यह है कि वीतराग भावरूप परम सामायिक जो मुनिका मुख्य निश्चय चारित्र है वही उत्तम है, यही मोक्षमार्ग है व इसीसे ही कर्मोंकी निर्जरा होती है। इस चारित्रके होते हुए शरीरादि किसी पदार्थका ममत्व नहीं रहता है। शुद्धोपयोगमें जबतक रागद्वेषका त्याग न होगा तबतक वीतराग भाव उत्पन्न नहीं होगा। यही उत्सर्ग मार्ग है। इसके निरन्तर रखनेकी शक्ति न होनेपर ही उन शुभ कार्योंको किया जाता है जो शुद्धोपयोगके लिये उपकारी हों। उन शुभ कार्योंकी सहायता लेना ही अपवाद मार्ग है। इससे आचार्यने यह बात दिखलाई है कि भाव लिंगको ही मुनिपद मानना चाहिये। जिस भावसे

मोक्षका साधन हो वही साधु पदका भाव है। वह बिलकुल ममतारहित आत्माका अभेद रत्नत्रयमें लीन होना है। इसलिये निरन्तर इसी भावकी भावना भानी चाहिये। जैसा देवसेन आचार्यने तत्त्वसारमें कहा है–

जो खलु सुद्धो भावो सा अप्पा त च दसण णाण।
चरणोपि त च भणिय सा सुद्धा चेयणा अहवा ॥ ८ ॥
ज अवियप्प तच्च त सार मोक्खकारण त च।
त णाऊण विसुद्ध झायेह होऊण णिग्गथो ॥ ६ ॥

भावार्थ–निश्चयसे जो कोई शुद्धभाव है वही आत्मा है, वही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है और उसीको ही सम्यग्चारित्र कहा है अथवा वही शुद्ध ज्ञानचेतना है। जो निर्विकल्प तत्त्व है वही सार है, वही मोक्षका कारण है। उसी शुद्ध तत्त्वको जानकर तथा निर्ग्रंथ अर्थात् ममता रहित होकर उसीका ही ध्यान करो।

इस तरह अपवाद व्याख्यानके रूपसे दूसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं ॥२९॥

उत्थानिका–आगे ग्यारह गाथाओं तक स्त्रीको उसी भवसे मोक्ष हो सक्ता है इसका निराकरण करते हुए व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही श्वेताम्बर मतके अनुसार बुद्धि रखनेवाला शिष्य पूर्वपक्ष करता है–

पेच्छदि णहि इह लोग पर च समणिंददेसिदो धम्मो।
धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पिय लिंगमित्थीण ॥ ३० ॥

प्रेक्षते न हि इह लोक पर च श्रमणेंद्रदेशितो धर्मो।
धर्मे तस्मिन् कस्मात् विकल्पित लिंग स्त्रीणा ॥ ३०

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(समणिंददेसिदो धम्मो) श्रमणोंके इन्द्र जिनेन्द्रोंसे उपदेश किया हुआ धर्म (इह लोग पर च) इस लोकको तथा परलोकको (णहि पेच्छदि) नहीं चाहता है। (तम्हि धम्मम्हि) उस धर्ममें (कम्हा) किस लिये (इत्थीण लिंगम्) स्त्रियोंका वस्त्र सहित लिंग (वियप्पिय) भिन्न कहा है।

विशेषार्थ–जैनधर्म वीतराग निज चैतन्य भावकी नित्य प्राप्तिकी भावनाके विनाशक अपनी प्रसिद्धि, पूजा व लाभ रूप इस लौकिक विषयको नहीं चाहता है और न अपने आत्माकी प्राप्तिरूप मोक्षको छोड़कर स्वर्गोंके भोगोंकी प्राप्तिकी कामना करता है। ऐसे धर्ममें स्त्रियोंका वस्त्रसहित लिंग किस लिये निर्ग्रंथ लिंगसे भिन्न कहा गया है।

भावार्थ–इस गाथामें प्रश्नकर्ताका आशय यह है कि स्त्रीके भी लिंगको–जो वस्त्रसहित होता है–निर्ग्रन्थ लिंग कहना चाहिये था तथा उसको तद्भव मोक्ष होनेका निषेध नहीं करना चाहिये था। ऐसा जो कहा गया है उसका क्या कारण है ?॥ ३८ ॥

उत्थानिका–इसी प्रश्नका आगे समाधान करते हैं।

णिच्छयदो इत्थीण सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा।
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥ ३९ ॥

निश्चयत स्त्रीणां सिद्धि न हि तेन जन्मना दृष्टा।
तस्मात् तत्प्रतिरूपं विकल्पितं लिंगं स्त्रीणां ॥ ३९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(णिच्छयदो) वास्तवमें (तेण जम्मणा) उसी जन्मसे (इत्थीण सिद्धि) स्त्रियोंको मोक्ष (ण हि दिट्ठा)

नहीं देखी गई है (तम्हा) इस लिये (इत्थीण लिंग) स्त्रियोंका भेष (तप्पडिरूव) आवरण सहित (वियप्पिय) पृथक् कहा गया है।

विशेषार्थ-नरक आदि गतियोंमे विलक्षण अनत सुख आदि गुणोंके धारी सिद्धकी अवस्थाकी प्राप्ति निश्चयसे स्त्रियोंको उसी जन्ममें नहीं कही गई है। इस कारणसे उसके योग्य वस्त्र सहित भेष मुनिके निर्ग्रंथ भेषसे अलग कहा गया है।

भावार्थ-सर्वज्ञ भगवानके आगममें स्त्रियोंको मोक्ष होना उसी जन्मसे निषेधा है, क्योंकि वे नग्न निर्ग्रंथ भेष नहीं धारण कर सक्तीं न सर्व परिग्रहका त्याग कर सक्तीं। परिग्रहके त्यागके विना प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थानमें ही नहीं जाना हो सक्ता है। तब फिर मोक्ष कैसे हो ? स्त्री आर्यिका होकर एक सफेद सारी रखती है इसलिये पाचवें गुणस्थान तक ही सयमकी उन्नति कर सक्ती है ॥ ३१ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि स्त्रियोंके मोक्षमार्गको रोकनेवाले प्रमादकी बहुत प्रबलता है-

पइडीपमादमइया एतासिं वित्ति भासिया पमदा।
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुलोत्ति णिद्दिट्ठा ॥३२॥
प्रकृत्या प्रमादमयी एतासा वृत्ति भासिता प्रमदा।
तस्मात् ता प्रमदा प्रमादबहुला इति निर्दिष्टा ॥ ३२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पयडी) स्वभावसे (एतासिं वित्ति) इन स्त्रियोंकी परिणति (पमादमइया) प्रमादमई है (पमदा भासिया) इसलिये उनको प्रमदा कहा गया है (तम्हा) अत (ताओ पमदा) वे स्त्रिया (पमादबहुलोत्ति णिद्दिट्ठा) प्रमादसे भरी हुई हैं ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ-क्योंकि स्वभावसे उनका वर्तन प्रमादमयी होता है इसलिये नाममालामें उनकी प्रमदा संज्ञा कही गई है। प्रमदा होने हीसे उनमें प्रमाद रहित परमात्मतत्त्वकी भावनाके नाश करनेवाले प्रमादकी बहुलता कही गई है।

भावार्थ-वास्तवमें निर्ग्रथ लिंग अप्रमादरूप है। स्त्रियोंके इस जातिके चारित्र मोहनीयका उदय है कि जिससे उनके भावोंसे प्रमाद दूर नहीं होता है। यही कारण है कि कोषमें स्त्रियोंको प्रमदा संज्ञा दी है। प्रमादकी बहुलता होने हीसे वे उस निर्विकल्प समाधिमें चित्त नहीं स्थिर कर सक्ती हैं जिसकी मुनिपदमें मोक्षसिद्धिके लिये परम आवश्यक्ता है। अप्रमत्त विरत गुणस्थान देशविरत पांचवेंसे एकदम होता है। प्रमत्तविरत छठे गुणस्थानमें तो अप्रमत्तसे पलटकर आता है--चढते हुए एकदम छठा गुणस्थान नहीं होता है। जब साधु वस्त्राभूषण त्यागकर नग्न हो लोचकर ध्यानस्थ होते हैं तब निर्विकल्प भाव जो बिलकुल प्रमादरहित है उस भावमें अर्थात् अप्रमत्त गुणस्थानमें पहुंच जाते हैं। सो ऐसा होना स्त्रियोंके लिये शक्य नहीं है॥ ३२॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि स्त्रियोंके मोह आदि भावोंकी अधिकता है-

संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगंछा य।
चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं॥ ३३॥

सन्ति ध्रुवं प्रमदानां मोहप्रद्वेषभयदुगुंछाश्च ।
चित्ते चित्रा माया तस्मात्तासां न निर्वाणं॥ ३३॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पमदाण चित्ते) स्त्रियोंके चित्तमें (धुव) निश्चयसे (मोहपदोसा भय दुगच्छाय) मोह, द्वेष, भय, ग्लानि तथा (चित्ता माया) विचित्र माया (सति) होती है (तम्हा) इसलिये (तासिं ण णिव्वाण) उनके निर्वाण नहीं होता है।

विशेषार्थ-निश्चयसे स्त्रियोंके मनमें मोहादि रहित व अनन्तसुख आदि गुण स्वरूप मोक्षके कारणको रोकनेवाले मोह, द्वेष, भय, ग्लानिके परिणाम पाए जाते हैं तथा उनमें कुटिलता आदिसे रहित उत्कृष्ट ज्ञानकी परिणतिकी विरोधी नाना प्रकारकी माया होती है। इसी लिये ही उनको बाधारहित अनन्त सुख आदि अनन्त गुणोंका आधारभूत मोक्ष नहीं हो सक्ता है यह अभिप्राय है।

भावार्थ-स्त्रियोंके मनमें कषायकी तीव्रता रहा करती है। इसीसे उनके सज्वलन कषायका मात्र उदय न हो करके प्रत्याख्यानावरणका भी इतना उदय होता है कि जिससे जितनी कषायकी मन्दता साधु होनेके लिये छठे व सातवें गुणास्थानमें चाही है वह नहीं होती है। साधारण रीतिसे पुरुषोंकी अपेक्षा पुत्र पुत्री धनादिमें विशेष मोह स्त्रियोंके होता है, जिससे कुछ भी अपने विषय भोगमें अतराय होता है उससे वैरभाव हो जाता है। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंको भय भी बहुत होता है जिससे बहुधा वे दोष छिपानेको असत्य कहा करती हैं तथा अदेखसका भाव या ग्लानि भी बहुत है जिससे वह अपने समान व अपनेसे बढ़कर दूसरी स्त्रीको सुखी नहीं देखना चाहती है। चाहकी दाह अधिक होनेसे व काम भोगकी अधिक तृष्णा होनेसे वह स्त्री अपने मनमें तरह तरहकी कुटिलाइयां सोचती है। इन

कषायोंका तीव्र उदय ही उनको उस ध्यानके लिये अयोग्य रखता है जो मोक्षके अनुपम आनन्दका कारण है ॥३३॥

उत्थानिका-और भी उसी होको दृढ करते हैं —

ण विणा वट्टदि णारी एक्क वा तेसु जीवलोयम्हि ।
ण हि सउड च गत्त तम्हा तासिं च सवरण ॥ ३४ ॥

न विना वर्तते नारी एक वा तेषु जीवलोके ।
न हि संवृत च गात्र तस्मात्तासां च संवरण ॥ ३४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जीवलोयम्हि) इस जीवलोकमें (तेसु एक्क विणा वा) इन दोषोंमेंसे एक भी दोषके विना (णारी ण वट्टदि) स्त्री नहीं पाई जाती है (ण हि सउड च गत्त) न उनका शरीर ही सकोचरूप या दृढतारूप होता है (तम्हा) इसीलिये (तासिं च सवरण) उनको वस्त्रका आवरण उचित है।

विशेषार्थ-इस जीवलोकमें ऐसी कोई भी स्त्री नहीं है जिसके ऊपर कहे हुए निर्दोष परमात्म ध्यानके घात करनेवाले दोषोंके मध्यमें एक भी दोष न पाया जाता हो। तथा निश्चयसे उनका शरीर भी सवृत रूप नहीं है इसी हेतुसे उनके वस्त्रका आच्छादन किया जाता है।

भावार्थ-जिनके कषायकी तीव्रता परिणामोंमें होगी उनकी मन, वचन व कायकी चेष्टा भी उन कषायोंके अनुकूल कषाय भावोंको प्रगट करनेवाली होगी, क्योंकि स्त्रियोंके चित्तमें मायाचारी व मोहादि दोष अवश्य होते हैं। आचार्य कहते हैं कि इस जगतमें ऐसी एक भी स्त्री नहीं है जिनके यह दोष न हो, इसी ही कारणसे उनका शरीर निश्चल सवर रूप नहीं रहता है-शरीरकी

क्रियाए कुटिलतासे भरी होती हैं जिनका रुकना जरूरी है। इसलिये वे वस्त्रोंको त्याग नहीं करसक्ती हैं और विना त्यागे निर्ग्रंथ पद नहीं होसक्ता है जो साक्षात मुक्तिका कारण है।

उत्थानिका-और भी स्त्रियोंमें ऐसे दोष दिखलाते हैं जो उनके निर्वाण होनेमें बाधक हैं।

चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं॥३८॥

चित्तस्रवः तासां शैथिल्यं आर्तवं च प्रस्खलनं।
विद्यते सहसा तासु च उत्पादः सूक्ष्ममनुष्याणां॥३८॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(तासिं) उन स्त्रियोंके (चित्तस्सावो) चित्तमें कामका झलकाव (सित्थिल्ल) शिथिलपना (सहसा अत्तव च पक्खलणं) तथा यकायक ऋतु धर्ममें रक्तका बहना (विज्जदि) मौजूद है (तासु अ सुहममणुआण उप्पादो) तथा उनके शरीरमें सूक्ष्म मनुष्योंकी उत्पत्ति होती है।

विशेषार्थ-उन स्त्रियोंके चित्तमें कामवासना रहित आत्म तत्वके अनुभवको विनाश करनेवाले कामकी तीव्रतासे रागसे गीले परिणाम होते हैं तथा उसी भवमे मुक्तिके योग्य परिणामोंमें चित्तकी दृढता नहीं होती है। वीर्य हीन शिथिलपना होता है इसके सिवाय उनके यकायक प्रत्येक मासमें तीन तीन दिन पर्यंत ऐसा रक्त बहता है जो उनके मनकी शुद्धिका नाश करनेवाला है तथा उनके शरीरमें सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंकी उत्पत्ति हुआ करती है।

भावार्थ-स्त्रियोंके स्त्री वेदका ऐसा ही उदय है कि जिससे उनका मन काम भोगकी तृष्णामे सदा जलता रहता है। ध्यानको

करते हुए उनके परिणामोंमें इतनी चचलता रहती है कि वे प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थानके ध्यानमें जैसी दृढ़ता चाहिये उसको नहीं प्राप्त कर सक्ती हैं । तथा शरीरमें भी ऐसा अस्थिर नाम कर्मका उदय है कि जिससे उनके न चाहनेपर भी शीघ्र ही एकदमसे उनके शरीरमेंसे प्रतिमास तीन दिन तक रक्त बहा करता है। उन दिनों उनका चित्त भी बहुत मलीन होजाता है । इसके सिवाय उनके शरीरमें ऐसी योनियां हैं जहां एक श्वासमें अठारह दफे जन्म मरण करनेवाले अपर्याप्त मनुष्य पैदा होते रहते हैं । ये सब कारण निर्ग्रन्थपदके विरोधी हैं ।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि उनके शरीरमें किस तरह लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य पैदा होते हैं —

लिंगं हि य इत्थीणं थणतरे णाहिकक्खपदेसेसु ।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि ॥ ३
लिंगे च स्त्रीणां स्तनान्तरे नाभिकक्षप्रदेशेषु ।
भणितः सूक्ष्मोत्पादः तासां कथं संयमो भवति ॥३६

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(इत्थीणं) स्त्रियोंके (लिंगं हि य थणतरे णाहिक्कखपदेसेसु) योनि स्थानमें, स्तनोंके भीतर, नाभिमें व बगलोंके स्थानोंमें (सुहुमुप्पादो) सूक्ष्म मनुष्योंकी उत्पत्ति (भणिदो) कही गई है (तासिं संजमो कह होदि) इसलिये उनके संयम किस तरह होसक्ता है ?

विशेषार्थ-यहां कोई यह शंका करे कि क्या ये पूर्वमें कहे हुए दोष पुरुषोंमें नहीं होते ? उसका उत्तर यह है कि ऐसा तो नहीं कहा जा सक्ता कि बिल्कुल नहीं होते किन्तु स्त्रियोंके भीतर

वे दोष अधिकतासे होते हैं ? स्त्री पुरुषके अस्तित्व मात्रसे ही समानता नहीं है। पुरुषके यदि दोषरूपी विषकी एक कणिका मात्र है तब स्त्रीके दोषरूपी विष सर्वथा मौजूद है। समानता नहीं है। इसके सिवाय पुरुषोंके पहला वज्रवृषभनाराचसहनन भी होता है जिसके बलसे सर्व दोषोंका नाश करनेवाला मुक्तिके योग्य विशेष संयम हो सक्ता है।

भावार्थ—इस गाथामें पुरुष व स्त्रीके शरीरमें यह विशेषता बताई है कि स्त्रियोंके योनि, नाभि, कास व स्तनोंमें सूक्ष्मलब्ध्य-पर्याप्त मनुष्य तथा अन्य जंतु उत्पन्न होते हैं सो बहुत अधिकतासे होते हैं। पुरुषोंके भी सूक्ष्म जंतु मलीन स्थानोंमें होते हैं परन्तु स्त्रियोंकी अपेक्षा बहुत ही कम होते हैं। शरीरमें मलीनता व घोर हिंसा होनेके कारण स्त्रिया नग्न, निर्ग्रन्थ पद धारनेके योग्य नहीं है। ऊपरकी गथाओंमें जो दोष सब बताए हैं वे पुरुषोंमें भी कुछ अंशमें होते हैं परन्तु स्त्रियोंके पूर्ण रूपसे होते हैं। इस लिये उनके महाव्रत नहीं होते हैं।

उत्थानिका—आगे और भी निषेध करते हैं कि स्त्रियोंके उसी भवमें मुक्तिमें जानेयोग्य सर्व कर्मोंकी निर्जरा नहीं हो सक्ती है।

जदि दसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता।
घोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ॥३७॥

यदि दर्शनेन शुद्धा सूत्राध्ययनेन चापि संयुक्ता।
घोरं चरति वा चारित्रं स्त्रिय न निर्जरा भणिता ॥३८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जदि दसणेण सुद्धा) यद्यपि कोई स्त्री सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हो (सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता) तथा

शास्त्रके ज्ञानसे भी संयुक्त हो (घोर चरिय चरदि) और घोर चारित्रको भी आचरण करे (इत्थिस्स णिज्जरा ण भणिदा) तौभी स्त्रीके सर्व कर्मकी निर्जरा नहीं कही गई है ।

विशेषार्थ-यदि कोई स्त्री शुद्ध सम्यक्तकी धारी हो व ग्यारह अंग मई सूत्रोंके पाठको करनेवाली हो व पक्ष भरका व मास मास भरका उपवास आदि घोर तपस्याको आचरण करनेवाली हो तथापि उसके ऐसी निर्जरा नहीं होसक्ती है जिससे स्त्री उसी भवमें सर्व कर्मको क्षयकर मोक्ष प्राप्त कर सके । इस कहनेका प्रयोजन यह है कि जैसे स्त्री प्रथम संहनन वज्रवृषभनाराचके न होनेपर सातवें नर्क नहीं जासकी तैसे ही वह निर्वाणको भी नहीं प्राप्त कर सक्ती है ।

यहां कोई है कि इन गाथाके कहे हुए भावके अनुसार "पुंवेदं वेदंता पुरिसा जे खवगसेढिमारूढा । सेसोदयेणवि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति" (अर्थात् पुरुष वेदको भोगनेवाले पुरुष जो क्षपक श्रेणिपर आरूढ होजाते हैं वैसे स्त्री व नपुंसक वेदके उदयमें भी ध्यानमें लीन क्षपक श्रेणिपर जा सिद्ध होजाते हैं) भाव स्त्रियोंको निर्वाण होना क्यों कहा है ? इसका समाधान यह है कि भाव स्त्रियोंके प्रथम संहनन होता है, द्रव्य स्त्रीवेद नहीं होता है, न उनके उसी भवमें मोक्षके भावोंको रोकनेवाला तीव्र कामका वेग होता है । द्रव्य स्त्रियोंको प्रथम संहनन नहीं होता है क्योंकि आगममें ऐसा ही कहा है जैसे—

"अंतिमतिगसंघडण णियमेण य कम्मभूमिमहिलाण ।
आदिमतिगसंघडण णत्थित्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं ।

भावार्थ—कर्मभूमिकी स्त्रियोंके अन्तके तीन संहनन नियमसे होते हैं तथा आदिके तीन नहीं होते हैं ऐसा जिनेंद्रोंने कहा है।

फिर कोई शंका करता है कि यदि स्त्रियोंको मोक्ष नहीं होती है तो आपके मतमें किस लिये आर्यिकाओंको महाव्रतोंका आरोपण किया गया है ? इसका समाधान यह है कि यह मात्र एक उपचार कथन है। कुलकी व्यवस्थाके निमित्त कहा है। जो उपचारकथन है वह साक्षात् नहीं हो सक्ता है। जैसे यह कहना कि यह देवदत्त अग्निके समान क्रूर है इत्यादि। इस दृष्टांतमें अग्निका मात्र दृष्टान्त है, देवदत्त साक्षात् अग्नि नहीं। इसी तरह स्त्रियोंके महाव्रतके करीब२ आचरण है, महाव्रत नहीं, क्योंकि यह भी कहा है कि मुख्यके अभावके होनेपर प्रयोजन तथा निमित्तके वश उपचार प्रवर्तता है।

यदि स्त्रियोंको तद्भव मोक्ष हो सक्ती हो तो सौ वर्षकी दीक्षाको रखनेवाली आर्जिका आज ही दीक्षा लेनेवाले साधुको क्यों वन्दना करती है ? चाहिये तो यह था कि पहले यह नया दीक्षित साधु ही उसको वन्दना करता, सो ऐसा नहीं है। तथा आपके मतमें मल्लि तीर्थंकरको स्त्री कहा है सो भी ठीक नहीं है। तीर्थंकर वे ही होते हैं जो पूर्वभवमें दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओंको भाकरके तीर्थंकर नामकर्म बांधते हैं। सम्यग्दृष्टी जीवके स्त्रीवेद कर्मका बन्ध ही नहीं होता है फिर किस तरह सम्यग्दृष्टी स्त्री पर्यायमें पैदा होगा। तथा यदि ऐसा माना जायगा कि मल्लि तीर्थंकर व अन्य कोई भी स्त्री होकर फिर निर्वाणको गए तो —क रूपकी प्रतिमाकी आराधना क्यों नहीं आप लोग करते हैं

आप कहोगे कि यदि स्त्रियोंमें पूर्व लिखित दोष होते हैं तो सीता, रुक्मणी, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा आदि जिन दीक्षा लेकर विशेष तपश्चरण करके किस तरह सोलहवें स्वर्गमें गई हैं? उसका समाधान कहते हैं, कि उनके स्वर्ग जानेमें कोई दोष नहीं है। वे उस स्वर्गसे आकर पुरुष होकर मोक्ष जावेंगी, स्त्रियोंको तद्भव मोक्ष नहीं है किन्तु अन्यभवमें उनके आत्माको मोक्ष हो इसमें कोई दोष नहीं है। यहां यह तात्पर्य है कि स्वयं वस्तु स्वरूपको ही समझना चाहिये केवल विवाद करना उचित नहीं है, क्योंकि विवादमें रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है जिस कारणसे शुद्धात्माकी भावना नष्ट होजाती है।

भावार्थ–इस गाथाका यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र पालनेपर भी स्त्रियोंके चित्तकी ऐसी दृढता नहीं हो सक्ती है जिससे वे सर्व कर्म नष्टकर तद्भव मोक्ष ले सकें ॥३७॥

उत्थानिका–आगे इस विषयको सकोचते हुए स्त्रियोंके व्रतोंमें क्या स्थिति है उसे समझाते हैं —

तम्हा त पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।
कुलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा ॥ ३८ ॥

तस्मात्तत्प्रतिरूपं लिंगं तासां जिनैर्निर्दिष्टं ।
कुलरूपवयोयुक्ता श्रामण्य तासां समाचारा ॥ ३८॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(तम्हा) इसलिये (तासिं लिंग) उन स्त्रियोंका चिन्ह या भेष (त पडिरूवं) वस्त्र सहित (जिणेहिं णिद्दिट्ठं) जिनेन्द्रोंने कहा है। (कुलरूववओजुत्ता) कुल, रूप, व करके सहित (तस्समाचारा) जो उनके योग्य आचरण हैं उन ~ ं (समणीओ) आर्जिकाएं होती हैं।

विशेषार्थ—क्योंकि स्त्रियोंको उसी भवमें मोक्ष नहीं होती है इसलिये सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवानने उन आर्जिकाओंका लक्षण या चिन्ह वस्त्र आच्छादन सहित कहा है। उनका कुल लौकिकमें घृणाके योग्य नहीं ऐसा जिनदीक्षा योग्य कुल हो। उनका स्वरूप ऐसा हो कि जो बाहरमें भी विकारसे रहित हो तथा अंतरंगमें भी उनका चित्त निर्विकार व शुद्ध हो तथा उनकी वय या अवस्था ऐसी हो कि शरीरमें जीर्णपना या भंग न हुआ हो, न अति बाल हों, न वृद्ध हों, न बुद्धिरहित मूर्ख हों, आचार शास्त्रमें उनके योग्य जो आचरण कहा गया है उसको पालनेवाली हों ऐसी आर्जिकाएं होनी चाहिये।

भावार्थ—जो स्त्रिया आर्जिका हों उनको एक सफेद सारी पहनना चाहिये यह उनका भेष है, साथमें मोरपिच्छिका व काष्ठका मंडल होता ही है। वे श्रावकसे घर बैठकर हाथमें भोजन करती हैं। जो आर्जिका पद धारे उनका लोकमान्य कुल हो, शरीरमें विकारका व मुखपर मनके विकारका झल्काव न हो तथा उनकी अवस्था बालक व वृद्ध न होकर योग्य हो जिससे वे ज्ञानपूर्वक तपस्या कर सकें। ग्यारहवीं श्रावककी प्रतिमामें जो चारित्र ऐलक श्रावकका है वही प्राय आर्जिकाजीका होता है ॥३८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो पुरुष दीक्षा लेते हैं। उनकी वर्णव्यवस्था क्या होती है।

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥३०॥

वर्णेषु त्रिषु एक: कल्याणाग: तप:सह: वयसा ।
सुमुख: कुत्सारहित: लिंगग्रहणे भवति योग्य: ॥ ३९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(तीसु वण्णेसु एक्को) तीन वर्णोंमेंसे एक वर्णवाला (कल्लाणगो) आरोग्य शरीर धारी, (तवासहो) तपस्याको सहन करनेवाला, (वयसा सुमुहो) अवस्थामें सुंदर मुखवाला तथा (कुछारहिदो) अपवाद रहित (लिंगगहणे जोग्गो हवदि) पुरुष साधु भेषका लेने योग्य होता है ।

विशेषार्थ-जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीन वर्णोंमें एक कोई वर्ण धारी हो, जिसका शरीर निरोग हो, जो तप करनेको समर्थ हो, अतिवृद्ध व अतिबाल न होकर योग्य वय सहित हो ऐसा जिसका मुखका भाग भंग दोष रहित निर्विकार हो तथा वह इस बातका बतलानेवाला हो कि इस साधुके भीतर निर्विकार परम चैतन्य परिणति शुद्ध है तथा जिसका लोकमें दुराचारादिके कारणसे कोई अपवाद न हो ऐसा गुणधारी पुरुष ही जिनदीक्षा ग्रहणके योग्य होता है-तथा यथायोग्य सत् शूद्र आदि भी मुनिदीक्षा ले सके हैं (" यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि " (जयसेन)) ।

भावार्थ-इस गाथामें स्त्री मोक्षके निराकरणके प्रकरणको कहते हुए आचार्य यह बताते हैं कि स्त्रियां तो मुनिलिंग धारण ही नहीं कर सक्ती हैं, किन्तु पुरुष भी जो मुनिभेष धारण करें उनका कुल ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य तीनोंमेंसे एक होना चाहिये तथा उसका शरीर स्वास्थ्ययुक्त हो, रोगी न हो, उपवास, ऊनोदर, रसत्याग, कायक्लेश आदि तप करनेमें साहसी हो, अवस्था योग्य न अति बाल हो, न अति वृद्ध हो, मुखके देखनेसे ही विदित

हो कि यह कोई गंभीर महात्मा है व आत्माके ध्याता व शुद्ध भावोंके धारी हैं, उनका लोकमें कोई अपवाद न फैला हुआ हो ऐसे महापुरुष ही दीक्षा लेसक्ते हैं। टीकाकारने यह भी दिखलाया है कि सत्शूद्र भी मुनि हो सक्ते हैं। यह बात पंडित आशाधरने अनगार धर्मामृतमें भी कही है " अन्यैर्ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यसच्छूद्रैः स्वदानगृहात " (चतुर्थ अ० व्याख्या श्लोक १६७)

इसका भाव यह है कि मुनियोंको दान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा सतशूद्र अपने घरसे दे सक्ते हैं।

इसका भाव यही झलकता है कि जब वे दान दे सक्ते हैं तो वे दान लेने योग्य मुनि भी होसक्ते हैं।

मूल गाथा व श्लोक नहीं प्राप्त हुआ तथा यह स्पष्ट नहीं हुआ कि सतशूद्र किसको कहते हैं। पाठकगण इसकी खोज करें।

उत्थानिका—आगे निश्चय नयका अभिप्राय कहते हैं—

जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहि णिद्दिट्ठो।
सेस भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणाअरिहो ॥ ४० ॥

यो रत्नत्रयनाश स भंगो जिनवरैं निर्दिष्ट ।
शेषभंगेन पुन न भवति सल्लेखनार्हः ॥ ४० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जो रयणत्तयणासो) जो रत्न-त्रयका नाश है (सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो) उसको जिनेन्द्रोंने व्रतभंग कहा है (पुणो सेस भंगेण) तथा शरीरके भंग होनेपर पुरुष (सल्लेहणा अरिहो ण होदि) साधुके समाधिमरणके योग्य नहीं होता है।

विशेषार्थ—विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव निज परमात्मतत्वका

सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व चारित्ररूप जो कोई आत्माका निश्चय स्वभाव है उसका नाश सो ही निश्चयसे भग है ऐसा जिनेंद्रोंने कहा है । तथा शरीरके अगके भग होनेपर अर्थात् मस्तक भग, अडकोष या लिंग भग (वृषणभग) वात पीडित आदि शरीरकी अवस्था होनेपर कोई समाधिमरणके योग्य नहीं होता है अर्थात लौकिकमें निरादरके भयसे निर्ग्रथ भेषके योग्य नहीं होता है। यदि कोपीन मात्र भी ग्रहण करे तो साधुपदकी भावना करनेके योग्य होता है ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि साधु पदके योग्य वही होसक्ता है जो निश्चय रत्नत्रयका आराधन कर सक्ता है । यह तो अतरङ्गकी योग्यता है । बाहरकी योग्यता यह है कि उसका शरीर सुन्दर व स्वास्थ्ययुक्त व पुरुषपनेके योग्य हो । उसके मस्तकमें कोई भग, लिंगमें भग आदि न हो, मृगी या बात रोगसे पीड़ित न हो । इससे यह दिखला दिया है कि मुनिका निर्ग्रथपद न स्त्री लेसक्ती है न नपुसक लेसक्ता है। पुरुषको ही लेना योग्य है । जो पुरुष अपने शरीरमें योग्य हो व अपने भावोंमे रत्नत्रय धर्मको पाल सक्ता हो ।

यहा ऊपर कही ग्यारह गाथाओंमें–जो श्री अमृतचद्र आचार्य कृत वृत्तिमें नहीं हैं–यह बात अच्छी तरह सिद्ध की है कि स्त्री निर्ग्रथपद नहीं धारण कर सक्ती हैं इसीसे सर्व कर्मोंके दग्ध करने योग्य ध्यान नहीं कर सकनेसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं कर सक्ती हैं। स्त्रियोंमें नीचे लिखे कारणोंसे वस्त्रत्याग निषेधा है ।

(१) स्त्रियोंके भीतर पुरुषोंकी अपेक्षा प्रमादकी अधिकता

है। आहार, मैथुन, चोर, राज इन चार विकथाओंके भीतर अधिक रजायमान होकर परिणमनेकी सुगमता तथा आत्मध्यानमें जमे रहनेकी शिथिलता है।

(२) स्त्रियोंमें अधिक मोह, ईर्षा, द्वेष, भय, ग्लानि व नाना प्रकार कपटजाल होता है। चित्त उनका मलीनतामें पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक लीन होता है।

(३) स्त्रियोंका शरीर सनोचरूप न होकर चचल होता है। उनके मुख, नेत्र, स्तन आदि अगोंमे सदा ही चचलता व हाव-भाव भरा होता है जिससे सौम्यपना जैसा मुनिके चाहिये नहीं आसक्ता है।

(४) स्त्रियोंके भीतर काम भावसे चित्तका गीलापना होता है व चित्तकी स्थिरताकी कमी होती है।

(५) प्रत्येक मासमें तीन दिन तक उनके शरीरसे रक्त वहता है जो चित्तको बहुत ही मैला कर देता है।

(६) उनकी योनि, उनके स्तन, नाभि, काखमें लब्ध्यपर्याप्तक समूर्छन मनुष्योंकी उत्पत्ति होती है तथा मरण होता है इससे बहुत ही अशुद्धता रहती है।

(७) स्त्रियोंके तीन अन्तके ही सहनन होते हैं जिनसे वह मुक्ति नहीं प्राप्तकर सक्ती। १६ स्वर्गसे ऊपर तथा छठे नर्कके नीचे स्त्रीका गमन नहीं होसक्ता है–न वह सातवें नर्क जासक्ती न ग्रैवेयक आदिमें जासक्ती है। श्वेतांबर लोग स्त्रियों मोक्षकी कल्पना करते हैं सो बात उनहीके शास्त्रोंमें विरोध रूप भासती है कुछ श्वेतांबरी शास्त्रोंकी बातें—

सप्ततिका नामा छठा कर्म ग्रन्थ पत्र ९९१ में लिखा है कि स्त्रीसे चौन्हवा पूर्व पढनेका निषेध है—सूत्रमे कहा है —

तुच्छागारवबहुला चलिंदिआ दुब्बला अधीइए।
इय अवसेसज्झयणा भू अऊहा अनोच्छीण ॥ १ ॥

भावार्थ—भूतवाद अर्थात दृष्टिवाद नामका बारहवा अग स्त्रीने नहीं पढ़ना चाहिये क्योंकि स्त्री जाति स्वभावसे तुच्छ (हल्की) होती है, गर्व अधिक करती है, विद्या झेल नहीं सक्ती, इंद्रियोंकी चचलता स्त्रियोंमें विशेष होती है स्त्रीकी बुद्धि दुर्बल होती है।

प्रवचनसारोद्धार—प्रकरण रत्नाकर भाग तीसरा (छपा म० १९६४ भीमसेन माणकजी बम्बई) पत्रे ५४४—४५ में है कि स्त्रियोंको नीचे लिखी बातें नहीं होसक्ती हैं—

अरहंत चक्कि केसव बल संभिन्नेय चारणे पुव्वा।
गणहर पुलाय आहारग च न हु भविय महिलाणं ॥५४०॥

भावार्थ—अरहत चक्री, नारायण, बलदेव, संभिन्नश्रोत, विद्याचारणादि, पूर्वका ज्ञान गणधर, पुलाकपना, आहारक शरीर—ये दश लब्धियें भव्य स्त्रीके नहीं होती हैं। (यहा अरहतसे तीर्थंकरपनेका प्रयोजन है ऐसा मालूम पड़ता है। सम्पादक) तथा जो श्री मल्लिनाथने स्त्रीपनेमें तीर्थंकरपना प्राप्त हुआ सो इसकाल अछेरा जानना अर्थात् यह एक विशेष बात हुई। प्रकरण रत्नाकर ४ था भागके षडशीति नामा चतुर्थ कर्मग्रंथ पत्र ३९८—

चौथे गुणस्थानमें स्त्रीवेदके उदय होते हुए औदारिक मिश्र विक्रियिक मिश्र, कार्मण ये तीन योग प्राय नहीं होते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी स्त्री पर्यायमें नहीं उपजता यही भाव है (सम्पादक), परंतु प्राय शब्दका यह खुलाशा पन्ने ५९१में है कि स्त्री व नपुंसक वेदके आठ आठ भंग (नियम विरुद्ध बातें) प्रत्येक चोवीसीमें समझना। इसलिये ब्राह्मी, सुन्दरी, मल्लिनाथ, राजीमती प्रमुख सम्यग्दृष्टी होकर यहां उपजे।

इस तरह कथनसे यह बात साफ प्रगट होती है कि जब तीर्थंकर, चक्रवर्तीपद व दृष्टिवाद पूर्वका ज्ञान स्त्रीको शक्तिहीनता व ढोषकी मुख्यताके कारण नहीं हो सक्ता है तब मोक्ष कैसे हो सक्ती है ? यहां श्री कुंदकुंदाचार्यका यह अभिप्राय है कि पुरुष ही निर्ग्रंथ—दिगम्बर पद धारणकर सक्ता है इसलिये वही तद्भव मोक्षका पात्र है। स्त्रियोंके तद्भव मोक्ष नहीं होसक्ती है। वे उत्कृष्ट श्रावकका व्रत रखकर आर्यिकाकी वृत्ति पाल सक्ती है और इस वृत्तिसे स्त्री लिंग छेद सोलहवें स्वर्गतकमें देवपद प्राप्तकर सक्ती हैं, फिर पुरुष हो मुक्ति लाभ कर सक्ती हैं।

श्री मूलाचारके समाचार अधिकारमें आर्यिकाओंके चारित्रकी कुछ गाथाएं ये हैं —

> अविकारवत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ।
> धम्मकुलकित्तिदिक्खापडिरूपविसुद्धचरियाओ ॥१६०॥
> अगिहत्थमिस्सणिलये असण्णिवाए विसुद्धसंचारे।
> दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति ॥१६१॥
> ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्स गमणिज्जे।
> गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज ॥ १६२ ॥
> रोदणण्हाणभोयणपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे।
> विरदाण पादमक्खणधोवण गेयं च ण य कुज्जा ॥१६३॥

तिण्णि य पञ्च य सत्त य अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ ।
थेरीहिं सहतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा ॥ १६४ ॥
पच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य ।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वदंति ॥ १६५ ॥

भावार्थ–आर्जिकाओंका वेष विकार रहित व वस्त्र भी विकार रहित श्वेत होता है-वे लाल पीले रंगीन वस्त्र नहीं पहनती हैं एक सफेद सारी रखती है–शरीरमें पसीना व कहीं कुछ मैलपन हो तो उसको न धोकर शृंगार रहित शरीर धारें। अपने धर्म, कुल, कीर्ति व दीक्षाके अनुकूल शुद्ध चारित्र पालें। आर्जिकाएं दूसरे गृहस्थके घरमें व किसी साधुके स्थानमें विना प्रयोजन न जावें। भिक्षा व प्रतिक्रमण आदिके लिये अवश्य जाने योग्य कार्यमें अपनी गुरानीको पूछकर दूसरोंके साथ मिलकर ही जावें–अकेली न जावें।

रोना, बालकोंको न्हलाना, भोजन पकाना व बालकोंको भोजन कराना, सीमना परोना, असि मसि कृषि वाणिज्य शिल्प विद्या आदिके आरंभ, साधुओंके चरण धोना, मलना, राग गाना आदि कार्य नहीं करें। तीन या पाच या सात आर्जिकाएं वृद्धा आर्यिकाओंको बीचमें देकर एक दूसरेकी रक्षा करती हुई भिक्षाके लिये सदा गमन करें।

पाच, छ सात हाथ क्रमसे दूर रहकरके आर्यिकाएं आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंको गवासनसे वन्दना करें। जिस तरह गौ बैठती है इस तरह बैठें ॥ ४० ॥

इस प्रकार स्त्री निर्वाण निराकरणके व्याख्यानकी मुख्यतासे ग्यारह गाथाओंके द्वारा तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका-आगे पूर्वमें कहे हुए उपकरणरूप अपवाद व्याख्यानका विशेष वर्णन करते हैं।

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च पण्णत्तं ॥ ४१ ॥
उपकरणं जिनमार्गे लिंगं यथाजातरूपमिति भणितम्।
गुरुवचनमपि च विनयः सूत्राध्ययनं च प्रज्ञप्तम् ॥ ४१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जिणमग्गे) जिनधर्ममें (उवयरणं) उपकरण (जहजादरूवम् लिंगं इदि भणिदं) यथाजातरूप नग्न भेष कहा है (गुरुवयणं पि य) तथा गुरुसे धर्मोपदेश सुनना (विणओ) गुरुओं आदिकी विनय करना (सुत्तज्झयणं च पण्णत्तं) तथा शास्त्रोंका पढ़ना भी उपकरण कहा गया है।

विशेषार्थ-जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए मार्गमें शुद्धोपयोग रूप मुनिपदके उपकारी उपकरण इस भांति कहे गए हैं (१) व्यवहारनयसे सर्व परिग्रहसे रहित शरीरके आकार पुद्गल पिंडरूप द्रव्यलिंग तथा निश्चयसे भीतर मनके शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप परमात्माका स्वरूप (२) विकार रहित परम चैतन्य ज्योतिस्वरूप परमात्मतत्वके बतानेवाले सार और सिद्ध अवस्थाके उपदेशक गुरुके वचन (३) आदि मध्य अन्तसे रहित व जन्म जरा मरणसे रहित निज आत्मद्रव्यके प्रकाश करनेवाले सूत्रोंका पढ़ना परमागमका बाचना (४) अपने ही निश्चय रत्नत्रयकी शुद्धि सो निश्चय विनय और उसके आधाररूप पुरुषोंमें भक्तिका परिणाम सो व्यवहार विनय दोनों ही प्रकारके विनय परिणाम ऐसे चार उपकरण कहे गए हैं ये ही वास्तवमें उपकारी हैं। अन्य कोई कमंडलादि व्यवहारमें व उपचारमें उपकरण हैं।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने इस बातका विशेष विचार किया है कि अपवाद मार्ग क्या है ? वास्तवमें उत्सर्ग भाव मुनि लिंग है अर्थात् परम साम्यभाव या शुद्धोपयोग है या स्वानुभव है। जहांपर न मनमें विचार है न वचनसे कुछ कहना है न कायकी कुछ क्रिया है, यही मुनिका वह सामायिक चारित्र है जो कर्मोंकी निर्जराका कारण है। परन्तु उत्सर्ग मार्गमें अभ्यासी साधुका उपयोग बहुत देरतक स्थिर नहीं होसक्ता है इसलिये उसको अपवाद मार्गमें उन उपकरणोंका सहारा लेना पड़ता है जो उनके सामायिक भावमें सहकारी हों। विरोधी न हों। यहां ऐसे चार उपकरणोंका वर्णन किया है। (१) परिग्रह व आरंभरहित निर्विकार शरीरका होना। यह नग्न भेष उदासीन भावका परम प्रबल निमित्त है। परिग्रह सहित भेष ममत्वका कारण है इससे साम्यभावका उपकरण नहीं होसक्ता (२) आचार्य, व उपाध्याय द्वारा धर्मोपदेशका सुनना व उनकी संगति करना यह भी परिणामोंको रागद्वेषसे हटानेवाला तथा स्वरूपाचरण चारित्रमें स्थिर करानेवाला है (३) विनय—तीर्थंकरोंकी भक्ति, वन्दना व गुरुओंकी विनय करना यथायोग्य शास्त्रोक्त विधिसे सत्कार करना। गुरु व देवकी भक्ति व विनय शुद्धोपयोगके लाभमें कारण है। (४) जिनवाणीका अभ्यास करना, यह भी अंतरंग शुद्धिका परम कारण है। व्यवहार नयसे परिग्रह त्याग, देवगुरु भक्ति, गुरुसे उपदेश लेना व शास्त्रको मनन करना ये चार कारण परम सामायिक भावके परमोपकारी हैं। इनको अपवाद इसलिये कहा है कि इन कार्योंमें प्रवर्तन करनेसे धर्मानुराग ... । है जो पुण्य बंधका कारण है। पुण्यबंध मोक्षका निरोधक है

कारण नहीं होसक्ता इसलिये पुण्यबंधके कारणोंका सहारा लेना अपवाद या जघन्य मार्ग है। वृत्तिकारने अपने मनमें परमात्माके स्वरूपका चिंतवन करना तथा निश्चय रत्नत्रयकी शुद्धिकी भावना जो मनसे की जाती है उनको भी उपकरण कहा है सो ठीक नहीं है क्योंकि भावना व विचार विकल्प रूप है-साक्षात वीतराग भावरूप नहीं हैं इसलिये ये भी अपवाद मार्गके उपकरण हैं।

तात्पर्य्य आचार्यका यह है कि इन सहायकोंको साक्षात् मुनिका भावलिंग न समझ लेना किन्तु अपवाद रूप उपकरण समझना जिससे ऐसा न हो कि उपकरणोंकी ही सेवामें मग्न होजावे और अपने निजपदको भूल जावे। मुनिपद वास्तवमें शुद्ध चेतन्य भाव है। वही उपादेय है। उसकी प्राप्तिके लिये इनका आलम्बन लेना हानिकर नहीं है, किन्तु नीचे पतनसे बचानेको और ऊपर चढनेको सहायक है। निश्चयसे भावकी शुद्धता ही मोक्षका कारण है जैसा श्री कुंदकुंद महाराजने स्वयं भावपाहुडमें कहा है—

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊण जइ इच्छसि सासयं सुक्खं ॥६०॥
जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥६१॥

भावार्थ—हे मुनिगण हो जो चार गति रूप संसारसे छूटकर शीघ्र शाश्वता सुख रूप मोक्ष चाहते हो तो भावोंकी शुद्धिके लिये अनन्त विशुद्ध अपने निर्मल आत्माको ध्याओ। जो जीव निज स्वभाव सहित होकर अपने ही आत्माके स्वभावकी भावना करता है सो जरा मरणका नाश करके शीघ्र निर्वाणको पाता है।

देहके मुनि–योग्य सयम देवादि देहधारी नहीं पाल सके हैं ।

इस नर देहकी स्थिरता साधुपदमें बिना भोजन किये न रह सक्ती है इसलिये साधु भोजन करते हैं अथवा भोजनके निमित्त विहार करते ह । वे जिह्वाके स्वादके लिये व शरीरको बलिष्ट बनानेके लिये भोजन नहीं करते हैं और वे इसी लिये भोजनमें रागी नहीं हैं । विराग भावसे जो शुद्ध भोजन गृहस्थ श्रावकने अपने कुटुम्बके लिये बनाया होता है उसीमेंसे जो मिल जाते उस लेते हैं, नीरस सरसका विकल्प नहीं करते हैं । जैसे गाय चारा चरती हुई कुछ भी और विकल्प नहीं करती वैसे साधु भोजन करते है । जैसे गड्ढेको भरना जरूरी है वैसे साधु शरीररूपी गड्ढेको खाली होनेपर भर लेते हैं । ऐसे साधु परम वैरागी होते हैं, क्रोधादि कषायके त्यागी होते हैं, न उनको इस लोकमें नामकी चाह पूजाकी चाह व किसी लाभकी चाह होती है न परलोकमें वे स्वर्गादिके सुख चाहते हैं, क्योंकि व सम्यग्दृष्टी साधु शक्षा व निदानके दोषसे रहित हैं । उनको एक आत्मानन्दकी ही भावना है उसीके वे रसिक हैं । इसीलिये मुनिपद द्वारा शुद्धा नानुभव करते रहकर सुख शांतिका भोग करते हैं तथा परलोकम बध रहित अवस्थाके ही यत्नमें लीन रहते हैं । उनका आहार विहार बहुत योग्य होता है वे आहारमें भी ऊनोदर करते हैं जिससे आलस्य व निद्राको जीत सके । कहा है —

> अक्खोमक्खणमेत्त भुजति मुणी पाणधारणणिमित्त ।
> पाण धम्मणिमित्त धम्मपि चरति मोक्खट्ठ ॥ ८१५ ॥
> सोदलमसोदल वा सुक्क लुक्ख सुणिद्ध सुद्ध वा ।
> लोणिदमलोणिद वा भुजति मुणी अणासादं ॥ ८१४ ॥

लद्धे ण होंति तुट्ठा ण वि य अलेद्धेण दुम्मणा होंति।
दुक्खे सुहेसु मुणिणो मज्झत्थमणाकुला होंति ॥ ८१६ ॥
णवि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं णवि य किंचि जायंते।
मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता ॥ ८१७ ॥

भावार्थ-जैसे गाडीका पहिया लेपके विना नहीं चलता है वैसे यह शरीर भी भोजन विना नहीं चल सक्ता है ऐसा विचार मुनिगण प्राणोंकी रक्षाके निमित्त कुछ भोजन करते हैं। प्राणोंकी रक्षा धर्मके निमित्त करते हैं तथा धर्मको मोक्षके लिये आचरण करते हैं। वे मुनि स्वादकी इच्छा किये बिना ठंडा, गरम, रूखा, सूखा, चिकना, नमकीन व विना निमकका जो शुद्ध भोजन मिले उसे करलेते हैं। भोजन मिलनेपर राजी नहीं होते, न मिलनेसे खेद नहीं मानते हैं। मुनिगण दुःख या सुखमें समानभाव रखते हुए आकुलता रहित रहते हैं। वे भोजनके लिये किसीकी स्तुति नहीं करते न याचना करते हैं-बिना मुखसे कहे मौनव्रतसे मुनिगण भिक्षाके लिये जाते हैं ॥ ४२ ॥

उत्थानिका आगे कहते हैं कि पंद्रह प्रमाद हैं इनसे साधु प्रमादी हो सक्ता है।

कोहादिएहि चउहिवि विकहाहि तहिंदियाणमत्थेहिं।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेहणिद्दाहिं ॥ ४३ ॥
क्रोधादिभिः चतुर्भिरपि विकथाभिः तथेन्द्रियाणामर्थैः।
श्रमणो भवति प्रमत्तो उपयुक्तः स्नेहनिद्राभ्याम् ॥ ४३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(चउहिवि कोहादिएहि विकहाहि चार प्रकार क्रोधसे व चार प्रकार विकथा स्त्री, भोजन राजा कथासे [illegible] णमत्थेहिं) तथा पांच इंद्रियोंके

(णेहणिद्दाहिं उवजुत्तो) स्नेह व निद्रासे उपयुक्त होकर (समणो) साधु (पमत्तो हवदि) प्रमादी हो सक्ता है ।

विशेषार्थ-सुखदु ख आदिमें समान चित्त रखनेवाला साधु क्रोधादि पद्रह प्रमादसे रहित चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मतत्वकी भावनासे गिरा हुआ पन्द्रह प्रकार प्रमादोंके कारण प्रमादी हो जाता है ।

भावार्थ-प्रमाद पन्द्रह होते हैं-चार कषाय-क्रोध, मान, माया, लोभ । चार विकथा-स्त्री, भोजन, चोर, राजकथा । पांच इंद्रिय स्पर्शनादि, स्नेह और निद्रा। इनके अस्सी भग होते हैं। ४×४×५×१×१=८० । अर्थात् एक प्रमाद भावमें १ कषाय, १ विकथा, १ इंद्रिय तथा स्नेह और निद्रा पाचका संयोग होगा। जैसे लोभ कषायवश स्त्री कथानुरागी हो स्पर्शेंद्रिय भोगमें स्नेहवान तथा निद्रालु हो जाना-यह एक भग हुआ । इसी तरह लोभ कषायवश स्त्रीकथानुरागी हो, रसनेंद्रिय भोगमें स्नेहवान तथा निद्रालु होजाना यह दूसरा भग हुआ । इसी तरह ८० भेद बन जायगे । जब कभी इनमेंसे कोई भग भावोंमें हो जाता तब मुनि प्रमत्त कहलाता है । प्राय मुनिगण इस तरह ध्यान स्वाध्यायमें लीन रहते हैं कि इन प्रमादोंमेंसे एकको भी नहीं होने देते, परन्तु तीव्र कर्मोंके उदयसे जब कभी प्रमादरूप भाव हो जावे तब ही साधु अप्रमादी होनेकी चेष्टा करते तथा उस प्रमादके कारण अपने चित्तमें पश्चाताप करते हैं ॥ ४३ ॥

उत्थानिका-आगे यह उपदेश करते हैं कि जो साधु योग्य आहार विहार करते हैं उनका क्या स्वरूप है ?

जस्स अणेसणमप्पा तपि तओ तप्पडिच्छगा समणा।
अण्ण भिक्खमणेसणमथ ते समणा अणाहारा ॥ ४४ ॥

यस्यानेषण आत्मा तदपि तप तत्प्रत्येषका श्रमणा ।
अन्यद्भैक्षमनेषणमथ ते श्रमणा अनाहारा ॥ ४४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जस्स) जिस साधुका (अप्पा) आत्मा (अणेसणम्) भोजनकी इच्छासे रहित है (तपि तओ) सो ही तप है (तप्पडिच्छगा) उस तपको चाहने वाले (समणा) मुनि (अणेसणम् अण्णम् भिक्खं) एषणादोष रहित निर्दोष अन्नकी भिक्षाको लेते है (अथ ते समणा अणाहारा) तो भी वे साधु आहार लेनेवाले नहीं है।

विशेषार्थ-जिस मुनिकी आत्मामें अपने ही शुद्ध आत्मीक तत्वकी भावनासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतके भोजनसे तृप्ति होरही है वह मुनि लौकिक भोजनकी इच्छा नहीं करता है। यही उस साधुका निश्चयसे आहार रहित आत्माकी भावनारूप उपवास नामका तप है। इसी निश्चय उपवासरूपी तपकी इच्छा करनेवाले साधु अपने परमात्मतत्वसे भिन्न त्यागने योग्य अन्य अन्नकी निर्दोष भिक्षाको लेते है तो भी वे अनशन आदि गुणोंसे भूषित साधुगण आहारको ग्रहण करते हुए भी अनाहार होते है। तैसे ही जो साधु क्रिया रहित परमात्माकी भावना करते हैं वे पाच समितियोंको पालते हुए विहार करते हैं तो भी वे विहार नहीं करते हैं।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने मुनियोंकी आहार व विहारकी प्रवृत्तिका आदर्श बताया है। वास्तवमें शारीरिक क्रियाका कर्ता कर्ता

नहीं होता किन्तु शारीरिक क्रिया करे व न करे उस क्रियाके कर नेका संकल्प करनेवाला कर्ता होता है। इसी सिद्धातको ध्यानमें रखते हुए आचार्य कहते हैं कि जैन साधुओंको न जिह्वाइंद्रियके स्वाद वश न शरीरको पुष्ट करनेके वश भोजनकी इच्छा होती है, न नगर वनादिकी सैर करनेके हेतुसे उनका विहार होता है। वे इंद्रियोंकी इच्छाओंको बिलकुल छोड चुके हैं इसी लिये उनके सदा ही अनशन अर्थात् उपवासरूपी तप है क्योंकि चार प्रकारके भोजनकी इच्छा न करना ही अनशन तप है। इसी ही तपकी पुष्टिका साधुगण सदा उद्यम रखते हैं, क्योंकि शरीर द्वारा ध्यान होता है। इस लिये शरीरको बनाए रखनेके हेतुसे वे निर्दोष भोजन भिक्षावृत्तिसे जो श्रावकने दिया उसे बिना स्वादके रागके लेलेते हैं तथा ममत्व भाव हटानेके लिये वे एक स्थानपर न ठहरकर विहार करते रहते हैं। इसी हेतुसे ऐसे निस्पृही साधु अहारविहार करते हुए भी न आहार करनेवाले न विहार करनेवाले निश्चयसे होते हैं। वे निरंतर निज आत्मीक रसके आस्वादी व निज आत्माकी शुद्ध भूमिकामें विहार करनेवाले होते हैं। ऐसे साधु किस तरह धर्मक्रियाके सिवाय अन्य क्रियाओंको नहीं चाहते हैं उसका स्वरूप यह है -

> जिणवयणमोहसमिण विसयसुहविरेयण अमिदभूद ।
> जरमरणवाहिवेयण खयकरण सव्वदुक्खाण ॥ ८४१ ॥
> जिणवयणणिच्छिदमदी अवि मरण अब्भुवेंति सप्पुरिसा ।
> ण य इच्छंति अकिरिय जिणवयण वदिक्कम कादु ॥७६॥

भावार्थ-साधुगण जिनवाणीरूपी औषधिको सदा सेवते हैं जो विषयोंके सुखोंकी इच्छाको हरनेवाली है, अमृतमई है, जरा

मरणकी व्याधि व वेदनाको तथा सर्व दुःखोंको क्षय करनेवाली है। ऐसे साधु जिनवाणीमें निश्चय रखते हुए चारित्रका पालन करते हैं तथा जिनवचनोंको उल्लंघन करके किसी भी शरीरादिकी क्रिया करनेका मनमें विचार तक नहीं करते हैं।

ऐसे वीतरागी साधुको आहार व विहारकी इच्छा कैसे हो सक्ती है। वे निरंतर आत्मीकरसके पान करनेवाले हैं।

श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

अग्रहो हि शमे येषां विग्रहः कर्मशत्रुभिः ।
विषयेषु निरासंगास्ते पात्रं यतिसत्तमाः ॥ २०० ॥
निःसंगिनोपि वृत्ताढ्या निःस्नेहाः सुश्रुतिप्रियाः ।
अभूषा पि तपोभूषास्ते पात्रं योगिनः सदा ॥ २०१ ॥

भावार्थ—जो मुनि दातारके यहां भोजन लेते हैं वे पात्र मुनि यतियोंमें श्रेष्ठ साम्यभावमें सदा लीन रहते हैं, कर्म शत्रुओंसे सदा झगड़ते हैं तथा इन्द्रियोंके विषयोंके संगसे रहित हैं। परिग्रह व संग रहित होनेपर भी वे चारित्रधारी हैं, स्नेह रहित होनेपर भी जिनवाणीसे परम प्रेम करनेवाले हैं, लौकिक भूषण न रखते हुए भी जो तप भूषणके धारी हैं। इस तरह योगीगण आत्मकल्याण करते हैं उनके भोजन व विहारकी इच्छा कैसे होसक्ती है ॥ ४४ ॥

उत्थानिका—आगे इसी अनाहारकपनेको दूसरी रीतिसे कहते हैं—

केवलदेहो समणो देहेवि ममेत्ति रहिदपरिकम्मो ।
आउत्तो तं तवसा अणिगूह अप्पणो सत्तिं ॥ ८९ ॥
केवलदेहः श्रमणो देहेपि ममेति रहितपरिकर्मा ।
आयुक्तवांस्तं तपसा अनिगूह्यात्मनः शक्तिम् ॥ ४५ ॥

इस कर्म शरीरको-जिसमें आत्मा कैद है और मुक्तिधामको नहीं जासक्ता-निरन्तर जलानेकी फिक्रमें हैं, इसलिये वे धीरवीर इस कर्म निमित्तसे प्राप्त स्थूल शरीरमें किस तरह मोह कर सक्ते हैं। जो वस्त्राभूषणादि बाह्य ग्रहण कर लिये थे उनका तो त्याग ही कर दिया क्योंकि वे हटाए जा सक्ते थे, परन्तु शरीरका त्यागना अपने संयम पालनेसे वंचित हो जाना है। यह विचार करके कि यह शरीर यद्यपि त्यागने योग्य है तथापि जबतक मुक्ति न पहुंचे धर्मध्यान शुक्लध्यान करनेके लिये यही आधार है। इस शरीरसे ममता न करते हुए इसकी उसी तरह रक्षा करते हैं जिस तरह किसी सेवकको काम लेनेके लिये रक्खा जावे और उसकी रक्षा की जावे, अतएव आहार विहारमें उसको लगाकर शरीरको स्वास्थ्ययुक्त रखते हैं कि यह शरीर तप करानेमें आलसी न हो जावे। अपनी शक्ति जहा तक होती है वहा तक शक्तिको लगाकर व किसी तरह शक्तिको न छिपाकर वे साधु महात्मा बारह प्रकार तपका साधन करते हुए कर्मकी निर्जरा करते हैं। उन साधुओंको जरा भी यह ममत्व नहीं है कि इस शरीरसे इंद्रियोंके भोग करूं व इसे बलिष्ट बनाऊं-शास्त्रोक्त विधानसे ही वे आहार विहार करते हुए शरीरकी स्थिति रखते हुए परम तपका साधन करते है, इसलिये वे श्रमण भोजन करते हुए भी नहीं करनेवाले हैं। उनकी दशा उस शोकाकुलके समान है जो किसीके वियोगका ध्यान कर रहे हों, जिनकी रुचि भोजनके स्वादसे हट गई हो फिर भी शरीर न छूट जाय इसलिये कुछ भोजन कर लेते हों। साधुगण निरंतर आत्मानंदमें मग्न रहते

मात्र शरीररूपी गाड़ीको चलानेके लिये उसके पहियोंमें तेलके समान भोजनदान देकर अपना मोक्ष पुरुषार्थ साधते हैं। कहा है–

णिस्सङ्गो णिरारम्भो भिक्खाचरियाए सुद्धभावो य ।
एगागी झाणरदो सव्वगुणड्ढो हवे समणो ॥ १००० ॥

भावार्थ–जो अन्तरङ्ग बहिरङ्ग सर्व मूर्छाके कारणमई परिग्रहसे रहित हैं, जो असि मसि आदि व पाचन आदि आरंभोंसे रहित हैं, जो भिक्षा चर्यामें भी शुद्ध ममता रहित भावके धारी हैं व जो एकाकी ध्यानमें लीन रहते हैं वे ही साधु सर्व गुणधारी होते हैं।

भिक्खं वक्कं हियय सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू ।
एसो सुट्ठिद साहू भणिओ जिणसासणे भयवं । १००४ ।

जो साधु नित्य भिक्षा, वाक्य व मनको शुद्ध रूपसे व्यवहार करते हुए आचरण करते हैं वे ही अपने स्वरूपमें स्थित सच्चे साधु हैं ऐसा भगवानने जिनशासनमें कहा है।

श्री कुन्दकुन्द भगवानने बोधपाहुड़में मुनिदीक्षाका यह स्वरूप दिखाया है —

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा ।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५० ॥

भावार्थ–मुनि महाराजकी दीक्षा ऐसी कही गई है जिसमें किसीसे नेह नहीं होता, जहा कोई लोभ नहीं होता, किसीसे मोह नहीं होता, जहा कोइ विकार, कलुषता, भय नहीं होते और न किसी प्रकारकी परद्रव्यकी आशा होती है। वास्तवमें ऐसे साधु ही शरीरमें ममत्व न करके योग्य आहार विहारके कर्ता होते हैं ।

उत्थानिका-आगे योग्य आहारका स्वरूप और भी विस्तारसे कहते हैं-

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जधा लद्धं ।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥ ४६ ॥

एकः खलु स भक्तः अप्रतिपूर्णोदरो यथालब्धः ।
भैक्षाचरणेन दिवा न रसापेक्षो न मधुमांसः ॥ ४६

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(खलु) वास्तवमें (तं भत्तं एक्कं) उस भोजनको एक ही बार (अप्पडिपुण्णोदरं) पूर्ण पेट न भरके ऊनोदर (जधा लद्धं) जैसा मिलगया वैसा (भिक्खेण चरणं) भिक्षा द्वारा प्राप्त (रसावेक्खं ण) रसोंकी इच्छा न करके (मधुमंसं ण) मधु व मांस जिसमें न हो वह लेना सो योग्य आहार होता है।

विशेषार्थ-साधु महाराज दिन रातमें एककाल ही भोजन लेते हैं वही उनका योग्य आहार है इसीसे ही विकल्प रहित समाधिमें सहकारी कारणरूप शरीरकी स्थिति रहनी सम्भव है। एकवार भी वे यथाशक्ति भूखसे बहुत कम लेते हैं, जो भिक्षाद्वारा जाते हुए जो कुछ गृहस्थ द्वारा उसकी इच्छासे मिल गया उसे दिनमें लेते हैं, रात्रिमें कभी नहीं। भोजन सरस है या रसरहित है। ऐसा विकल्प न करके समभाव रखते हुए मधु मांस रहित व उपलक्षणसे आचार शास्त्रमें कही हुई पिंड शुद्धिके क्रमसे समस्त अयोग्य आहारको वर्जन करते हुए लेते हैं। इससे यह बात कही गई कि इन गुणों करके सहित जो आहार है वही तपस्वियोंका योग्य आहार है, क्योंकि योग्य आहार लेनेसे ही दो प्रकार हिंसाका त्याग होसक्ता है। चिदानंद ... रूप निश्चय प्राणमें रागादि विकल्पोंकी

उपाधि न होने देना सो निश्चयनयसे अहिंसा है तथा इसकी साधनरूप बाहरमें परजीवोंके प्राणोंको कष्ट देनेसे निवृत्तिरूप रहना सो द्रव्य अहिंसा है। दोनो ही अहिंसाकी प्रतिपालना योग्य आहारमें होती है और जो इसके विरुद्ध आहार हो तो वह योग्य आहार न होगा, क्योंकि उसमें द्रव्यअहिंसासे विलक्षण द्रव्यहिंसाका सद्भाव हो जायगा।

भावार्थ-यद्यपि ऊपरकी गाथाओंमें युक्ताहारका कथन हो चुका है तथापि यहां आचार्य अल्पज्ञानीके लिये विस्तारसे समझानेको उसीका स्वरूप बताते हैं। पहली बात तो यह है कि साधुओंको दिन रातके चोवीस घण्टोंमें एक ही वार भोजन पान एक ही स्थानपर लेना चाहिये, क्योंकि शरीरको भिक्षावृत्तिसे मात्र भाड़ा देना है इससे उदासीनभावसे एक दफे ही जो भिक्षा मिल गई उतनी ही शरीर रक्षामें सहकारी होजाती है। यदि दो तीन चार दफे लेवें तो उनका भोजनमें राग होजावे व शरीरमें प्रमाद व निद्रा सतावे जिससे भाव हिंसा बढ़ जावे और योगाभ्यास न होसके। दूसरी बात यह है कि वे साधु पूर्ण उदर भोजन नहीं करते हैं, इतना करते हैं कि शरीरमें बिना किसी आकुलताके भोजन पच जावे। साधारण नियम यह है कि दो भाग अन्नसे एक भाग जलसे तथा एक भाग खाली रखते हैं, क्योंकि प्रयोजन मात्र शरीरकी रक्षाका है यदि इससे अधिक लेंव तो उनका भोजनमें राग बढ़ जावे तथा वे अयोग्य आहारी हो जावें। तीसरी बात यह है कि जैसा सरस नीरस गर्म ठंढा सूखा तर दातार गृहस्थने देदिया उसको समताभावसे भोजन कर

लेते हैं। वे यह इच्छा नहीं करते कि हमें अमुक ही मिलना चाहिये, ऐसा उनके रागभाव नहीं उठता है। वृत्तिपरिसंख्यान तपमें व रसपरित्याग तपमें वे तपकी वृद्धिके हेतु किसी रस या भोजनके त्यागकी प्रतिज्ञा ले लेते हैं, परन्तु उसका वर्णन किसीसे नहीं करते हैं। यदि उस प्रतिज्ञामें बाधारूप भोजन मिले तो भोजन न करके कुछ भी खेद न मानते हुए बडे हर्षसे एकांत स्थलमें जाकर ध्यान मग्न होजाते हैं। चौथी बात यह है कि वे निमंत्रणसे कहीं भोजनको जाते नहीं, स्वयं करते कराते नहीं, न ऐसी अनुमोदना करते हैं। वे भिक्षाको किसी गलीमें जाते हैं वहां जो दातार उनको भक्ति सहित पडगाह लेवे वहीं चले जाते हैं और जो उसने हाथोंपर रख दिया उसे ही खा लेते हैं। वे इतनी बात अवश्य देख लेते हैं कि यह भोजन उद्देशिक तो नहीं है अर्थात् मेरे निमित्तसे तो दातारने नहीं बनाया है। यदि ऐसी शंका होजावे तो वे भोजन न करें। जो दातारने अपने कुटुम्बके लिये बनाया हो उसीका भाग लेना उनका कर्तव्य है।

पांचवीं बात यह है कि वे साधु दिनमें प्रकाश होते हुए भोजनको जाते हैं। रात्रिमें व अन्धेरेमें भोजनको नहीं जाते हैं। छठी बात यह है कि किसी विशेष रसके खानेकी लोलुपता नहीं रखते। वे जिह्वाइंद्रियके स्वादकी इच्छाको मार चुके हैं। सातवीं बात यह है कि वे ४६ दोष, ३२ अन्तराय व १४ मलरहित शुद्ध भोजन करते हैं उसमें किसी प्रकार मांस, मद्य, मधुका दोष हो तो शंका होनेपर उस भोजनको नहीं करते-जैन साधु अशुद्ध आहारके [illegible] होते हैं। वे इस बातको जानते

आहारका असर बुद्धिपर पड़ता है। जो सूक्ष्म आत्मतत्त्वके मनन करनेवाले हैं उनकी बुद्धि निर्मल रहनी चाहिये। इन सात बातोंको जो अच्छी तरह पालते हैं उन्हींका आहार योग्य होसक्ता है।

श्री मूलाचार समयसार अधिकारमें लिखा है —

भिक्ख चर वस रण्णे थोव जेमेहि मा बहू जप ।
दु ख सह जिण णिद्दा मेत्ति भावेहि सुट्ठु वेरग्ग ॥८९५

भावार्थ–आचार्य साधुको शिक्षा देते हैं कि तू कृत कारित अनुमोदनासे रहित भिक्षा ले, स्त्री पशु नपुंसक आदि रहित पर्वतकी गुफा बन आदिमें वस, थोड़ा प्रमाण रूप जीम अथवा जितना भोजन हो उससे कमसे कम–चौथाई भाग कम–भोजन कर, अधिक बात न कर, दुःख व परीसहोंको सानन्द सहन कर, निद्राको जीत सर्व प्राणीमात्रसे मैत्री रख तथा अच्छी तरह वैराग्यकी भावना कर। मुनिको स्वय भोजन करके कराके व अनुमोदना करके न लेना चाहिये। वही कहते हैं।

जो भुजदि आधाकम्म छज्जीवाण घायण किच्चा ।
अबुहो लोल सजिब्भो ण वि समणो सावओ होज्ज ॥९२७
पयण व पायण वा अणुमणचित्तो ण तत्थ बोहेदि
जेमतोवि सघादी ण वि समणो दिट्ठिसपण्णो ॥ ९२८

भावार्थ–जो कोई साधु छ प्रकारके जीवोंकी हिंसा करके अध कर्मसहित अशुद्ध भोजन करता है वह अज्ञानी लोलुपी, जिह्वाका स्वादी न तो साधु है न श्रावक है। जो कोई साधु भोजनके पकने, पकानेमें अनुमोदना करता है अध कर्म दोषसे नहीं डरता वह ऐसे भोजनको जीमता हुआ आत्माका घात करनेवाला है–

वह न साधु है और न सम्यग्दृष्टी है। क्योंकि उसने जिन आज्ञाको उल्लंघन किया है।

साधुको बहुत भोजन नहीं करना चाहिये। वही लिखते हैं–

पढम विउलाहार विदिय कायसोहण।
तदिय गधमल्लाइ चउत्थ गीयवाद्य ॥ ६६७ ॥

भावार्थ–साधुको ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये चार बातें न करनी चाहिये एक तो बहुत भोजन करना दूसरे शरीरकी शोभा करना, तीसरे गंध लगाना मालाकी सुगंध लेना, चौथे गाना बजाना करना, साधु कभी भोजनकी याचना नहीं करते, कहा है—

देहोति दीणकलुस भास णेच्छति एरिस वत्तु।
अवि णीदि अलाभेण ण य मोण भजदे धीरा ॥ ८१८ ॥

भावार्थ–मुझे ग्रास मात्र भोजन देओ ऐसी करुणा भाषा कभी नहीं कहते, न ऐसा कहते कि म ६ या ७ दिनका भूखा हूं यदि भोजन न मिलेगा तो मैं मर जाऊंगा मेरा शरीर कृश है, मेरे शरीरमें रोगादि हैं, आपके सिवाय हमार ौन है ऐसे दया उपजानेवाले वचन साधु नहीं कहते किन्तु भो न लाभ नहीं होनेपर मौनव्रत न हुए लौटते लौट जाते हैं–धीरवी स ाधु कभी याचना नहीं करते।

हाथमें भक्तिसे दिये हुए भोजनको भी शुद्ध होनेपर ही लेते ह जैसा कहा है —

ज होज्ज वेहिज्ज तेहिज्ज च वेदण्ण जतुस सिद्ध।
अप्पासुग तु णच्चा त भिक्ख मुणी विवज्जेंति ॥ ५६

(मू० आ०)

भावार्थ–जो भोजन दो दिनका तीन दिनका व रसचलित, जन्तु मिश्रित अप्रासुक हो ऐसा जानकर मुनि उस भि

नहीं करते हैं फिर उस दिन अन्तराय पालते हैं। भोजन एक बार ही करते फिर उपवास ले लेते हैं। कहा है—

भोत्तूण गोयरग्गे तहेव मुणिणो पुणो वि पडिकंता।
परिमिदएयाहारा खमणेण पुणो वि पारेंति। ६१

भावार्थ-भिक्षा चर्याके मार्गसे भोजन करके वे मुनि दोष दूर करनेके लिये प्रतिक्रमण करते हैं। यद्यपि कृत कारित अनुमोदनासे रहित भिक्षा ली है तथापि अपने भावोंकी शुद्धि करते हैं। जो नियम रूपसे एकवार ही भोजन पान करते हैं फिर उपवास ग्रहण कर लेते हैं। उपवासकी प्रतिज्ञा पूरी होनेपर फिर पारणाके लिये जाते हैं।

उत्थानिका-प्रकरण पाकर आचार्य मासके दूषण बताते हैं—

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
सत्ततियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं ॥ ४७॥
जो पक्कमपक्कं वा पेसी मंसस्स खादि फासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं ॥ ४८॥

पक्वासु चामासु च विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येन उत्पादः तज्जातीनां निगोदानां ॥ ४७॥
यः पक्वामपक्वां वा पेशीं मांसस्य खादति स्पृशति वा।
स किल निहन्ति पिंडं जीवानां अनेककोटीनां ॥ ४८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पक्केसु अ) पके हुए व (आमेसु अ) कच्चे तथा (विपच्चमाणासु) पकते हुए (मंसपेसीसु) मासके खंडोंमें (तज्जादीणं) उस मासकी जातिवाले (णिगोदाणं) निगोद जीवोंका (सत्ततियमुववादो) निरंतर जन्म होता है (जो) जो कोई (पक्कम् व अपक्कं मंसस्स पेसी) पक्की, या कच्ची मासकी डलीको

(खादि) खाता है (वा फासदि) अथवा स्पर्श करता है (सो) वह (अणेक कोडीण) अनेक क्रोड (जीवाण) जीवोंके (पिंड) समूहको (णिच्छ) निश्चयसे (णिहणदि) नाश करता है।

विशेषार्थ—मांसपेशीमें जो कच्ची, पकी व पकती हुई हो हरसमय उस मांसकी रगत, गंध, रस व स्पर्शके धारी अनेक निगोद जीव—जो निश्चयसे अपने शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके धारी हैं—अनादि व अनंत कालमें भी न अपने स्वभावसे न उपजने न विनशते हैं, ऐसे जंतु व्यवहारनयसे उत्पन्न होते रहते हैं। जो कोई ऐसे कच्चे२ पके मांस खंडको अपने शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतको न भोगता हुआ खालेता है अथवा स्पर्श भी करता है वह निश्चयसे लोकोंके कथनसे व परमागममें कहे प्रमाण करोडों जीवोंके समूहका नाशक होता है।

भावार्थ—इन दो गाथाओंमें—जिनकी वृत्ति श्री अमृतचंद्रकृत टीकामें नहीं है—आचार्यने बताया है कि मांसका दोष सर्वथा त्यागने योग्य है। मांसमें सदा सम्मूर्छन जंतु त्रस उसी जातिके उत्पन्न होते हैं जैसा वह मांस होता है। वेगिनती त्रसजीव पैदा हो होकर मरते हैं इसीसे मांसमें कभी दुर्गंध नहीं मिटती है। द्वेन्द्रियसे पचेंद्रिय तक जंतुओंके मृतक कलेवरको मांस कहते हैं। साक्षात् मांस खाना जैसा अनुचित है वैसा ही जिन वस्तुओंमें त्रसजंतु उत्पन्न हो होकर मरें उन वस्तुओंको भी खाना उचित नहीं है, क्योंकि उनमें त्रस जंतुओंका मृतक कलेवर मिल जाता है। इसीलिये सदा ही ताजा शुद्ध भोजन गृहस्थको करना चाहिये और उसीमेंसे मुनियोंको दान करना चाहिये। बासी, सड़ा, घुना भोजन मांस दोषमें

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अमृतचन्द्र आचार्य मांसके सनधर्में यही बात कहते हैं—

यद्यपि किल भवति मांस स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥ ६६ ॥
आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६७ ॥
आमां वा पक्वां वा खादति य स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुकोटिजीवानाम् ॥ ६८ ॥

भावार्थ–मांसके लिये अवश्य पशु मारे जायगे, इससे बड़ी हिंसा होगी। यदि कोई कहे कि अपनेसे मरे हुए बैल व भैंसेके मांसमें तो हिंसा न होगी? उसके निषेधमें कहते हैं कि अवश्य हिंसा होगी क्योंकि उस मांसमें पैदा होनेवाले निगोद जीवोंका नाश हो जायगा। क्योंकि मांस पेशियोंमें कच्ची, पक्की व पकती हुई होनेपर भी उनमें निरन्तर उसी जातिके निगोद जीव पैदा होते रहते हैं। इसलिये जो मांसकी डलीको कची व पक्की खाता है या स्पर्श भी करता है वह बहुत क्रोड़ जंतुओंके समूहको नाश करता है। भोजनकी शुद्धि मांस, मद्य, मधुके स्पर्श मात्रसे जाती रहती है इसने साधुगणोंको ऐसा ही आहार लेना योग्य है जो निर्दोष हो। जैसा कहा है –

जं सुद्धमसमसं वज्जं भोज्जं च लेज्जं पेज्जं वा
गिण्हंति मुणी भिक्खं सुत्तेण अणिंदियं जं तु ॥ ८२४ ॥

भावार्थ–जो भोजन खाद्य, भोज्य, लेह्य, पेय शुद्ध हो, मांसादि दोष रहित हो, जंतुओंसे रहित हो, शास्त्रमें निन्दनीय न हो ऐसे

भोजनकी भिक्षाको मुनिगण लेते हैं। यहा यह भाव बताया गया है कि शेष कन्दमूल आदि आहार जो एकेंद्रिय अनन्तकाय हैं वे तो अग्निसे पकाए जानेपर प्रासुक होजाते हैं तथा जो अनन्त त्रस-जीवोंकी खान है सो अग्निसे पक्व हो, पक रहा हो व न पका हो कभी भी प्रासुक अर्थात् जीव रहित नहीं हो सक्ता है इस कारणसे सर्वथा अभक्ष्य है ॥ ४८॥

उत्थानिका-आगे इस बातको कहते हैं कि हाथपर आया हुआ आहार जो प्राशुक हो उसे दूसरोंको न देना चाहिये।

अप्पडिकुट्ठ पिंड पाणिगय णेव देयमण्णस्स।
दत्ता भोत्तुमजोग्ग भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो ॥ ८९ ॥

अप्रतिकुष्ट पिंड पाणिगत नैव देयमन्यस्मै।
दत्वा भोक्तुमयोग्य भुक्तो वा भवति प्रतिकुष्ट ॥ ४९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(अप्रतिकुष्ट पिंड) आगमसे जो आहार विरुद्ध हो (पाणिगत) सो हाथपर आजाने उसे (अण्णस्स णेव देयम्) दूसरेको देना नहीं चाहिये। (दत्ता भोत्तु-मजोग्ग) दे करके फिर भोजन करनेके योग्य नहीं होता है (भुत्तो वा पडिकुट्ठो होदि) यदि कदाचित उसको भोग ले तो प्रायश्चितके योग्य होता है।

विशेषार्थ-यहा यह भाव है-कि जो हाथमें आया हुआ शुद्ध आहार दूसरको नहीं देता है किन्तु खालेता है उसके मोह रहित आत्मतत्वकी भावनारूप मोहरहितपना जाना जाता है।

भावार्थ-इस गाथाका-जो अमृतचद्रकृत टीकामें नहीं है-यह भाव है कि जो शुद्ध प्राशुक भोजन उनके हाथमें रक्खा जावे

उसको साधुको समताभावसे संतोषसे लेना चाहिये। यदि कोई साधु कदाचित भूलसे व कोई कारणवश उस आहारको जो उसके हाथपर रक्खा गया है दूसरेको दे दे और वह भोजन दुवारा मुनिके हाथपर रक्खा जावे तो उसको मुनिको योग्य लेना नहीं है। यदि कदाचित ले लेवे तो वह प्रायश्चितका अधिकारी है। मुनिके हाथमें आया हुआ ग्रास यदि मुनिद्वारा किसीको दिया जावे तो वह मुनि उसी समयसे अंतराय मानते हैं। फिर उस दिन वे भोजनके अधिकारी नहीं होते हैं। इसका भाव जो समझमें आया सो लिखा है। विशेष ज्ञानी सुधार लेवें ॥ ४९ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि उत्सर्ग मार्ग निश्चयचारित्र है तथा अपवाद मार्ग व्यवहारचारित्र है। इन दोनोंमें किसी अपेक्षासे परस्पर सहकारीपना है ऐसा स्थापित करते हुए चारित्रकी रक्षा करनी चाहिये, ऐसा दिखाते हैं।

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरउ सजोग्गं मूलच्छेदं जधा ण हवदि ॥ ५० ॥

बालो वा वृद्धो वा श्रमाभिहतो वा पुनर्ग्लानो वा।
चर्या चरतु स्वयोग्यां मूलच्छेदो यथा न भवति ॥ ५० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ -(बालो वा) बालक मुनि हो अथवा (बुड्ढो वा) बुड्ढा हो या (समभिहदो) थक गया हो (वा पुनग्लानो वा) अथवा रोगी हो ऐसा मुनि (जधा) जिस तरह (मूलच्छेद) मूल संयमका भंग (ण हवदि) न होवे (सजोग्गं) वैसे अपनी शक्तिके योग्य (चर्यां) आचारको (चरदु) पाले।

विशेषार्थ-प्रथम ही उत्सर्ग और अपवादका लक्षण कहते हैं। अपने शुद्ध आत्माके पाससे अन्य सर्व भीतरी व बाहरी परिग्रहका त्याग देना सो उत्सर्ग है इसीको निश्चयनयसे मुनि धर्म कहते हैं। इसीका नाम सर्व परित्याग है, परमोपेक्षा सयम है, वीतराग चारित्र है, शुद्धोपयोग है-इस सबका एक ही भाव है। इस निश्चय मार्गमें जो ठहरनेको समर्थ न हो वह शुद्ध आत्माकी भावनाके सहकारी कुछ भी प्रासुक आहार, ज्ञानका उपकरण शास्त्रादिको ग्रहण कर लेता है यह अपवाद मार्ग है। इसीको व्यवहारनयसे मुनि धर्म कहते हैं। इसीका नाम एक देश परित्याग है, अपहृत सयम है, सरागचारित्र है, शुभोपयोग है, इन सबका एक ही अर्थ है। जहा शुद्धात्माकी भावनाके निमित्त सर्व त्याग स्वरूप उत्सर्ग मार्गके कठिन आचरणमें वर्तन करता हुआ साधु शुद्धात्मतत्वके साधकरूपमे जो मूल सयम है उसका तथा सयमके साधक मूल शरीरका जिस तरह नाश नहीं होवे उस तरह कुछ भी प्रासुक आहार आदिको ग्रहण कर लेता है सो अपवादकी अपेक्षा या सहायता सहित उत्सर्ग मार्ग कहा जाता है। और जब वह मुनि अपवाद रूप अपहृत सयमके मार्गमे वर्तता है तब भी शुद्धात्मतत्वका साधकरूपसे जो मूल सयम है उसका तथा मूल सयमके साधक मूल शरीरका जिस तरह विनाश न हो उस तरह उत्सर्गकी अपेक्षा सहित वर्तता है-अर्थात् इस तरह वर्तन करता है जिसतरह सयमका नाश न हो। यह उत्सर्गकी अपेक्षा सहित अपवाद मार्ग है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने दयापूर्वक बहुत ही स्पष्ट रूपसे मुनि मार्गपर चलनेकी विधि बताई है। निश्चय मार्ग तो

अभेद रत्नत्रय स्वरूप है, वहां निज शुद्धात्माका श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, उसीका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है व उसीमें लीन होना सम्यग्चारित्र है–इसीको भावलिंग कहते हैं। यह निर्विकल्प दशा है, यही वीतराग सम्यग्दर्शन तथा वीतराग चारित्र है, यही उपेक्षा संयम है, यही सर्व संन्यास है, यही एकाग्रध्यानावस्था है। इसीमें वीतरागताकी अग्नि जलकर पूर्व बांधे हुए घोर कर्मोंकी निर्जरा कर देती है, यही आत्माके बलको बढ़ाती है, यही ज्ञानका अधिक प्रकाश करती है। जो भरतचक्रवर्तिके समान परम वीर साधु हैं वे इस अग्निको लगातार अंतर्मुहूर्त तक जलाकर उतने ही कालमें घातियाकर्मोंको दग्धकर केवलज्ञानी हो जाते हैं, परन्तु जो साधु इस योग्य न हो अर्थात् शुद्धात्माकी आराधनामें बराबर उपयोग न लगा सकें ऐसे थके हुए साधु, अथवा जो छोटी वयके व बड़ी वयके हों वा रोगपीड़ित हों इन सर्वसाधुओंको योग्य है कि जबतक उपयोग शुद्धात्माके सन्मुख लगे वहीं जमे रहें। जब ध्यानसे चलायमान हों तब व्यवहार धर्मका शरण लेकर जिस तरह अट्ठाईस मूलगुणोंमें कोई भंग न हो उस तरह वर्तन करें–क्षुधा शमन करनेको ईर्या समितिसे गमन करें, श्रावकके घर सन्मानपूर्वक पड़गाहे जानेपर शुद्ध आहार ग्रहण करके वनमें लौट आवें, शास्त्रका पठनपाठन उपदेशादि करें, कोमल पिच्छिकासे शोधते हुए शरीर, कमंडलु, शास्त्रादि रक्खें उठावें, आवश्यक्ता पड़नेपर शौचादि करें। यह सब व्यवहार या अपवाद मार्ग है उसको साधन करें। निश्चय और व्यवहार दोनोंकी अपेक्षा व सहायतासे वर्तना सुगम चर्या है। जो मुनि हठसे ऐसा एकांत पकड़ले कि मैं तो शुद्धात्म

ध्यानमें ही जमे रहेगा वह थक जानेपर यदि अपवाद या व्यवहार मार्गको न पावेगा तो अवश्य संयमसे भ्रष्ट होगा व शरीरका नाश कर देगा। और जो कोई अज्ञानी शुद्धात्माकी भावनाकी इच्छा छोड़कर केवल व्यवहार रूपसे मूल गुणोंके पालनेमें ही लगा रहेगा वह द्रव्यलिंगी रहकर भावलिंगरूप मूल संयमका घात कर डालेगा। इसलिये निश्चय व्यवहारको परस्पर मित्र भावसे ग्रहण करना चाहिये।

जब व्यवहारमें वर्तना पड़े तब निश्चयकी तरफ दृष्टि रक्खे और यह भावना भावे कि कब मैं शुद्धात्माके बागमें रमण करूं और जब शुद्धात्माके बागमें क्रीड़ा करते हुए किसी शरीरकी निर्बलताके कारण असमर्थ हो जावे तबतक निश्चय तथा व्यवहारमें गमनागमन करता हुआ मूल संयम और शरीरकी रक्षा करते हुए वर्तना ही मुनि धर्म साधनकी यथार्थ विधि है। इस गाथासे यह भी भाव झलकता है कि अठाईस मूलगुणोंकी रक्षा करते हुए अनशन ऊनोदर आदि तपोंको यथाशक्ति पालन करना चाहिये। जो शक्ति कम हो तो उपवास न करे व कम करे। वृत्ति परिसंख्यानमें कोई बड़ी प्रतिज्ञा न धारण करे। इत्यादि, आकुलता व आर्त्तध्यान चित्तमें न पैदा करके समताभावसे मोक्ष मार्ग साधन करना साधुका कर्तव्य है।

तात्पर्य यह है कि साधुको जिस तरह बने भावोंकी शुद्धिता बढ़ानेका यत्न करना चाहिये। मूलाचारमें कहा है—

भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुगइ होई।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी ॥ ९९५ ॥

भावार्थ—जो अंतरंग भावोंसे वैरागी है वही विरक्त है।

जो द्रव्यमात्र बाहरमें त्यागी हैं उससे उत्तम गति नहीं हो सक्ती है। इस कारणसे इन्द्रियोंके विषयोंमें रमणमें लोलुपी मनरूपी हाथीको अपने वशमें रखना चाहिये।

सामायिकपाठमें श्री अमितगति महाराज कहते हैं—

यो जागर्ति शरीरकार्यकरणे वृत्तौ विधत्ते यतो
हेयादेयविचारशून्यहृदये नात्मक्रियायामसौ।
स्वार्थं लब्धुमना विमुञ्चतु सदा शश्वच्छरीरादरं
कार्यस्य प्रतिबन्धके न यतते निष्पत्तिकामः सुधीः ॥७२॥

भावार्थ—जो कोई यतन करनेवाला शरीरके कार्यके करनेमें जागता है वह हेय उपादेयके विचारसे शून्य हृदय होकर आत्माके प्रयोजनको सिद्ध करना चाहता है, उसको शरीरका आदर छोड़ना चाहिये क्योंकि कार्यको पूर्ण करनेवाले बुद्धिवान कार्यके विघ्न करनेवालेका यत्न नहीं करते अर्थात् विघ्नकारकको दूर रखते हैं।

जो यथार्थ आत्मरसिक हैं और शरीरादिसे वैरागी हैं वे ही मुनिपदकी चर्या पाल सक्ते हैं ॥ ५० ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते हैं कि अपवादकी अपेक्षा विना उत्सर्ग तथा उत्सर्गकी अपेक्षा विना अपवाद निषेधने योग्य है। तथा इस बातको व्यतिरेक द्वारसे दृढ़ करते हैं।

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥५१॥

आहारे च विहारे देशं कालं श्रमं क्षमामुपधिम्।
ज्ञात्वा तान् श्रमणो वर्तते यद्यल्पलेपी स ॥ ५१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जदि) यदि (समणो) साधु (आहारे व विहारे) आहार या विहारमें (देस काल सम खम उवधिं ते जाणित्ता) देशको, समयको, मार्गकी थकनको, उप वासकी क्षमता या सहनशीलताको, तथा शरीररूपी परिग्रहकी दशाको इन पाचोंको जानकर (वट्टदि) वर्तन करता है (सो अप्पलेवी) वह बहुत कम कर्मबंधसे लिप्त होता है।

विशेषार्थ-जो शत्रु मित्रादिमें समान चित्तको रखनेवाला साधु तपस्वीके योग्य आहार लेनेमें तथा विहार करनेमें नीचे लिखी इन पाच बातोंको पहले समझकर बर्तन करता है वह बहुत कम कर्मबंध करनेवाला होता है (१) देश या क्षेत्र कैसा है (२) काल आदि किस तरहका है (३) मार्ग आदिमें कितना श्रम हुवा है व होगा (३) उपवासादि तप करनेकी शक्ति है या नहीं (४) शरीर बालक है, या वृद्ध है या थकित है या रोगी है। ये पाच बातें साधुके आचरणक सहकारी पदार्थ हैं। भाव यह है कि यदि कोई साधु पहले कहे प्रमाण कठोर आचरणरूप उत्सर्ग मार्गमें ही वर्तन करे और यह विचार करे कि यदि मैं प्रासुक आहार आदि ग्रहणके निमित्त जाऊंगा तो कुछ कर्मबंध होगा इस लिये अपवाद मार्गमें न प्रवर्ते तो फल यह होगा कि शुद्धोपयोगमें निश्चलता न पाकर चित्तमें आर्त्तध्यानसे सक्लेश भाव हो जायगा तब शरीर त्यागकर पूर्वकृत पुण्यसे यदि देवगतिमें चला गया तो वहा दीर्घकालतक संयमका अभाव होनेसे महान कर्मका बन्ध होवेगा इसलिये अपवादकी अपेक्षा न करके उत्सर्ग मार्गको साधु त्याग देता है तथा शुद्धात्माकी भावनाको

करानेवाला थोड़ासा कर्मबन्ध हो तो लाभ अधिक है ऐसा जानकर अपवादकी अपेक्षा सहित उत्सर्ग मार्गको स्वीकार करता है । तैसे ही पूर्व सूत्रमें कहे क्रमसे कोई अपहृत संयम शब्दसे कहने योग्य अपवाद मार्गमें प्रवर्तता है वहां वर्तन करता हुआ यदि किसी कारणसे औषधि, पथ्य आदिके लेनेमें कुछ कर्मबन्ध होगा ऐसा भय करके रोगका उपाय न करके शुद्ध आत्माकी भावनाको नहीं करता है तो उसके महान कर्मका बंध होता है अथवा व्याधिके उपायमें प्रवर्तता हुआ भी हरीतकी अर्थात् हड़के बहाने गुड़ खानेके समान इंद्रियोंके सुखमें लम्पटी होकर संयमकी विराधना करता है तो भी महान कर्मबन्ध होता है । इसलिये साधु उत्सर्गकी अपेक्षा न करके अपवाद मार्गको त्याग करके शुद्धात्माकी भावनारूप व शुभोपयोगरूप संयमकी विराधना न करता हुआ औषधि पथ्य आदिके निमित्त अल्प कर्मबन्ध होते हुए भी बहुत गुणोंसे पूर्ण उत्सर्गकी अपेक्षा सहित अपवादको स्वीकार करता है यह अभिप्राय है ।

भावार्थ–इस गाथाका यह अर्थ है कि साधुको एकांतसे हठग्राही न होना चाहिये । उत्सर्ग मार्ग अर्थात् निश्चयमार्ग तथा अपवादमार्ग अर्थात् व्यवहारमार्ग इन दोनोंसे यथावसर काम लेना चाहिये । जबतक शुद्धोपयोगमें ठहरा जाव तबतक तो उत्सर्ग मार्गमें ही लीन रहे परन्तु जब उसमें उपयोग न लग सके तो उसको व्यवहारचारित्रका सहारा लेकर जिससे फिर शीघ्रही शुद्धोपयोगमें चलना हो जावे ऐसी भावना करके कुछ शरीरकी थकनको मैटे–उसका वैयावृत्य करे, भोजनपानके निमित्त नगरमें जावे, शुद्ध

आहार ग्रहण करे, शरीरको स्वस्थ रखता हुआ वारवार उत्सर्गमार्गमें आरूढ होता रहे। इसी विधिसे साधु संयमका ठीक पालन कर सक्ता है। जो ऐसा हठ करें कि मैं तो ध्यानमें ही बैठा रहूंगा न शरीरकी थकन मेटूंगा, न उसे आहार दूंगा, न शरीरसे मल हटानेको शौच करूँगा तो फल यह होगा कि शक्ति न होनेपर कुछ काल पीछे मन घबड़ा जायगा और पीड़ा चिन्तवन आर्तध्यान हो जावेगा। तथा मरण करके कदाचित् देव आयु पूर्व बांधी हो तो देवगतिमें जाकर बहुत काल संयमके लाभ विना गमाएगा। यदि वह अपवाद या व्यवहार मार्गमें आकर शरीरकी सम्हाल करता रहता तो अधिक समय तक संयम पालकर कर्मोंकी निर्जरा करता इससे ऐसे उत्सर्ग मार्गका एकांत पकड़नेवालेने थोड़े कर्म बंधके भयसे अधिक कर्म बंधको प्राप्त किया। इससे लाभके बदले हानि ही उठाई। इसलिये ऐसे साधुको अपवादकी सहायता लेकर उत्सर्ग मार्ग सेवन करना चाहिये। दूसरा एकांती साधु मात्र अपवाद मार्गका ही सेवन करे। शास्त्र पढ़े विहार करे, शरीरको भोजनादिसे रक्षित करे, परन्तु शुद्धोपयोगरूप उत्सर्ग मार्गपर जानेकी भावना न करे। निश्चय नय द्वारा शुद्ध तत्वको न अनुभवे, प्रतिक्रमण व सामायिक पाठादि पढ़े सो भी भाव साधुपनेको न पाकर अपना सच्चा हित नहीं कर सकेगा अथवा व्यवहार मार्गका एकांती साधु शरीर शोषक कठिन कठिन तपस्या करे—भोजन आदि करूंगा तो अल्प बंध होगा ऐसा भय करके शरीरको स्वास्थ्ययुक्त व निराकुल न बनावे और अपने योगको शुद्धात्माके [illegible] यह भी एकांती [illegible]

पनेको नहीं पावेगा–अथवा कोई व्यवहार आलम्बी साधु आहार पानका लोलुपी होकर अपवाद मार्गकी बिल्कुल परवाह न करे तौ ऐसा साधु भी साधुपनेके फलको नहीं प्राप्त कर सकेगा, किन्तु महान कर्मका बंध करनेवाला होगा। इससे साधुको उत्सर्ग मार्ग सेवते हुए अपवादकी शरण व अपवाद मार्ग सेवते हुए निश्चय या उत्सर्गकी शरण लेते रहना चाहिये–किसी एक मार्गका हठ न करना चाहिये। जब साधु क्षपक श्रेणीपर चढ़ जाता है तब निश्चय व व्यवहार चारित्रका विकल्प ही नहीं रहता है। तब तो निश्चय चारित्रमें जमा हुआ अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञानी होजाता है।

यहां गाथामें यह बात स्पष्ट की है कि साधुको आहार व विहारमें पांच बातोंपर ध्यान दे लेना चाहिये।

(१) यह देश जहां मैं हूं व जहां मैं जाता हूं किस प्रकारका है। राजा न्यायी है या अन्यायी है, मंत्री न्यायी है या अन्यायी है, श्रावकोंके घर हैं या नहीं, श्रावक धर्मज्ञाता, बुद्धिमान हैं या मूर्ख हैं, श्रावकोंके घर थोड़े हैं या बहुत हैं, अजैनोंका जैन साधुओंपर यहां उपसर्ग है या नहीं। इस तरह विचारकर जहां संयमके पालनेमें कोई बाधा नहीं मालूम पड़े उस देशमें ही, उस ग्राम या नगरमें ही साधु विहार करें, ठहरें या आहारके निमित्त नगरमें जावें। जैसे मध्यदेशमें बारह वर्षका दुष्काल जानकर श्री भद्रबाहु श्रुतकेवलीने अपने चौबीस हजार मुनिसंघको यह आज्ञा की थी कि इस देशको छोड़कर दक्षिणमें जाना चाहिये। यह विचार सब अपवाद मार्ग है, परन्तु यदि साधु ऐसा न विचार करे ... शुद्धोपयोगरूप उत्सर्ग मार्गमें नहीं चल सके।

(२) कालका भी विचार करना जरूरी है। यह ऋतु कैसी है, शीत है या उष्ण है या वर्षाकाल है, अधिक उष्णता है या अधिक शीत है, सहनयोग्य है या नहीं, कालका विचार देशके साथ भी कर सके है कि इस समय जिस देशमें कैसी ऋतु है वहा संयम पल सकेगा या नहीं। भोजनको जाते हुए अटपटी आखडी देश व कालको बिचार कर लेवे कि जिससे शरीरको पीडा न उठ जावे। जब शरीरकी शक्ति अधिक देखे तब कड़ी प्रतिज्ञा लेवे जब हीन देखे तब सुगम प्रतिज्ञा लेवे। जिस रस या वस्तुके त्यागसे शरीर बिगड जावे उसका त्याग न करे। ऋतुके अनुसार क्या भोजन लाभकारी होगा उसको चला करके त्याग न कर बैठे। प्रयोजन तो यह है कि मैं स्वरूपाचरणमें रमूं उसके लिये शरीरको बनाए रक्खू। इस भावनासे योग्यताके साथ वर्तन करे।

(३) अपने परिश्रमकी भी परीक्षा करे--कि मैंने ग्रथ लेखनमें, शास्त्रोपदेशमे, विहार करनेमें इतना परिश्रम किया है अब शरीरको स्वास्थ्य लाभ कराना चाहिये नहीं तो यह किसी कामका न रहेगा। ऐसा विचार कर शरीरको आहारादि करानेमें प्रमाद न करे।

(४) अपनी सहनशीलताको देखे कि मैं कितने उपवासादि तप व कायक्लेशादि तप करके नहीं घबडाऊगा। जितनी शक्ति देखे उतना तप करे। यदि अपनी शक्तिको न देखकर शक्तिसे अधिक तप कर ले तो आर्तध्यानी होकर धर्मध्यानसे डिग जावे और उल्टी अधिक हानि करे।

(५) अपने शरीरकी दशाको देखकर योग्य आहार ले या थोडी या अधिक दूर विहार करे। मेरा शरीर बालक है या वृद्ध

है या रोगी है ऐसा विचार करके आहार विहार करै। वास्तवमें ये सब अपवाद या व्यवहार मार्गके विचार हैं, परंतु अभ्यासी साधकको ऐसा करना उचित है, नहीं तो वह धर्मध्यान निराकुलताके साथ नहीं कर सक्ता है। वीतराग चारित्रको ही ग्रहण करने योग्य मानके जब उसमें परिणाम न ठहरें तब सराग चारित्रमें वर्तन करे तौभी वीतराग चारित्रमें शीघ्र जानेकी भावना करे।

इस तरह जो साधु विवेकी होकर देशकालादि देखकर वर्तन करते हैं वे कभी संयमका भंग न करते हुए सुगमतासे मोक्षमार्गपर चले जाते हैं। यही कारण है जिससे यह बात कही है कि साधु कभी अप्रमत्त गुणस्थानमें कभी प्रमत्त गुणस्थानमें वारम्वार आवागमन करते हैं--अप्रमत्त गुणस्थानमें ठहरना उत्सर्ग मार्ग है, प्रमत्तमें आना अपवाद मार्ग है। इसी छठे गुणस्थानमें ही साधु आहार, विहार, उपदेशादि करते हैं। सातवेंमें ध्यानस्थ होजाते हैं। यद्यपि हरएक दो गुणस्थानका काल अंतर्मुहूर्त है तथापि बार बार आते जाते हैं। कभी उपदेश करते विहार करते आहार करते हुए भी मध्यमें जघन्य या किसी मध्यम अंतमुहूर्तके लिये स्वरूपमें रमण कर लेते हैं।

प्रयोजन यही है कि जिस तरह इस नाशवंत देहसे दीर्घ काल तक स्वरूपका आराधन होसके उस तरह साधुको विचार पूर्वक वर्तन करना चाहिये। २८ मूलगुणोंकी रक्षा करते हुए कोमल कठोर जैसा अवसर हो चारित्र पालते रहना चाहिये। परिणामोंमें कभी संक्लेश भावको नहीं लाना चाहिये। कहा है सारसमुच्चयमें श्री कुलभद्र आचार्यने---

तथानुष्ठेयमेतद्धि पंडितेन हितैषिणा ।
यथा न विक्रिया याति मनोऽत्यर्थं विपत्स्वपि ॥१६६॥
सक्लेशो नहि कर्तव्य सक्लेशो बन्धकारण ।
सक्लेशपरिणामेन जीवो दु खस्य भाजन ॥ १६७ ॥
सक्लेशपरिणामेन जीव प्राप्नोति भूरिश ।
सुमहत्कर्मसम्बन्ध भवकोटिषु दु खदम् ॥ १६८ ॥

भावार्थ—आत्महितको चाहनेवाले पंडितजनका कर्तव्य है कि इस तरह चारित्रको पाले जिससे विपत्ति या उपसर्ग परीषह आनेपर भी मन अतिशय करके विकारी न हो, मनमें सक्लेश या दु खित परिणाम कभी नहीं करना चाहिये ।

क्योंकि यह सक्लेश कर्मबधका कारण है। ऐसे आर्त्तभावोंसे यह जीव दु खका पात्र हो जाता है—सक्लेश भावसे यह जीव करोड़ों भवोंमें दु ख देनेवाले महान् कर्मबन्धको प्राप्त होजाता है।

भाव यही है कि मनमें शुद्धोपयोग और शुभोपयोग इन दोके सिवाय कभी अशुभोपयोगको स्थान नहीं देना चाहिये ।

इस तरह 'उवयरण जिणमग्गे' इत्यादि ग्यारह गाथाओंसे अपवाद मार्गका विशेष वर्णन करते हुए चौथे स्थलका व्याख्यान किया गया। इस तरह पूर्व कहे हुए क्रमसे ही "णिरवेक्खो-जोगो" इत्यादि तीस गाथाओंसे तथा चार स्थलोंसे अपवाद नामका दूसरा अतर अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ९१ ॥

इसके आगे चौदह गाथाओं तक श्रामण्य अर्थात् मोक्षमार्ग नामका अधिकार कहा जाता है। इसके चार स्थल हैं उनमेंसे पहले ही आगमके अभ्यासकी मुख्यतासे "एयग्गमणो" इत्यादि यथाक्रमसे पहले स्थलमें चार गाथाएं हैं। इसके पीछे भेद व

लगा हुआ है सो श्रमण है। टांकीमें उकेरेके समान ज्ञाता दृष्टा एक स्वभावका धारी जो परमात्मा पदार्थ हैं उसको आदि लेकर सर्व पदार्थोंमे जो साधु श्रद्धाका धारी हो उसीके एकाग्रभाव प्राप्त होता है। तथा इन जीवादि पदार्थोंका निश्चय आगमके द्वारा होता है। अर्थात् जिस आगममे जीवोंके भेद तथा कर्मोंके भेदादिका कथन हो उसी आगमका अभ्यास करना चाहिये। केवल पढ़नेका ही अभ्यास न करे किन्तु आगमोंमें सारभूत जो चिदानन्दरूप एक परमात्मतत्वका प्रकाशक अध्यात्म ग्रंथ है व जिसके अभ्यासमे पदार्थका यथार्थ ज्ञान होता है उसका मनन करे। इस कारणसे ही उस ऊपर कहे गए आगम तथा परमागममें जो उद्योग है वह श्रेष्ठ है। ऐसा अर्थ है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह बतलाया है कि शुद्धोपयोगका लाभ उसी समय होगा जब कि जीव अजीव आदि तत्वोंका यथार्थज्ञान और श्रद्धान होगा। जिसने सर्व पदार्थोंके स्वभावको समझ लिया है तथा अध्यात्मिक ग्रन्थोंके मननसे निज आत्माको परमशुद्ध केवलज्ञानका धनी निश्चय किया है वही श्रद्धा तथा ज्ञान पूर्वक स्वरूपाचरणमे रमण कर सक्ता है। पदार्थोंका ज्ञान जिन आगमके अच्छी तरह पठन पाठन व मनन करनेसे होता है इस लिये साधुको जिन आगमके अभ्यासकी चेष्टा अवश्य करनी चाहिये, बिना आगमके अभ्यासके भाव लिंगका लाभ होना अतिशय कठिन है, उपयोगकी थिरता पाना बहुत कठिन काम है। ज्ञानी जीव ज्ञानके बलमें पदार्थोंका स्वरूप ठीक ठीक समझके समदर्शी होसक्ता है।

व्यवहारनयसे पदार्थोंका स्वरूप अनेक भेदरूप व अनेक पर्यायरूप है जब कि निश्चयनयसे हरएक पदार्थ अपनेर स्वरूपमें

है। मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं, मैं रागी हूं, मैं द्वेषी हूं, मैं मर्मा हूं, मैं दुःखी हूं, मैं सुखी हूं, यह कल्पना व्यवहारके आलम्बनमें होती है।

निश्चयनयसे जब हमको यह ज्ञान हो जाता है कि मेरा आत्मा शुद्ध है, ज्ञाताद्रष्टा है न परभावका कर्ता है न परभावका भोक्ता है, अपनी निज परिणतिमें सदा परिणमन करता हुआ अपने शुद्ध भावका ही कर्ता व भोक्ता है। जितने रागादिभाव हैं सब मोहनीय कर्मकी उपाधिसे होते हैं। मैं निश्चयसे सर्व कर्मोंकी उपाधिसे रहित परम वीतराग हूं, ऐसी दृढ़ श्रद्धा जैसी अपने स्वभावकी होती है वैसी ही जगतमें अन्य आत्माओंकी होती है। इस निश्चयनयसे जब पदार्थोंका ज्ञान बुद्धिमें झलकने लगता है तब ज्ञाताका मन आकुलित नहीं होता तथा उसके मनसे रागद्वेषकी कालिमा दूर हो जाती है। तब उसके न कोई शत्रु दिखता है न मित्र दिखता है। जब ऐसी स्थिति ज्ञानकी हो जाती है तब ही यथार्थ श्रद्धा प्राप्त होती है और तब ही अपने स्वरूपमें रमणता होती है तथा तब ही वह श्रमणभाव श्रमण है व शुद्धोपयोगका रमनेवाला है। आगम ज्ञान इतना आवश्यक है कि इसके प्रतापसे आयुके सिवाय सब मोहनीय आदि सात कर्मोंकी स्थिति घट जाती है और परिणामोंमें कषायोंकी अनुभाग शक्ति घटनेसे विशुद्धता बढ़ती जाती है। जितनी विशुद्धता बढ़ती है उतनी और कषायोंकी अनुभाग शक्ति कम हो जाती है। इस तरह आगमके मननसे ही यह जीव देशनालब्धिसे प्रायोग्यलब्धि पाकर सम्यग्दृष्टी हो जाता है। सम्यग्दृष्टीको आत्मानुभव होता ही है।

वश ऐसा सम्यग्दृष्टी जीव चौथे पांचवें गृहस्थके गुणस्थानोंमें भी थोडी२ एकाग्रता अपने स्वरूपमें प्राप्त करता है, फिर जब साधु हो जाता है तब इस रत्नत्रय धर्मके प्रतापसे स्वरूपकी एकाग्रतारूप उत्सर्ग मार्गको या शुद्धोपयोगको भले प्रकार प्राप्त कर लेता है। प्रयोजन कहनेका यही है कि आगमज्ञान ही भाव मुनिपदका मूल कारण है। मूलाचारमें कहा भी है—

सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एअग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥४१०॥
बारसविधह्मिवि तवे सब्भंतरवाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसम तवोकम्म ॥४०६॥
सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण।
एव ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि तहा पमाददोसेण ॥८०॥

भावार्थ—जो साधु स्वाध्याय करता है वही पचेन्द्रियोंको सकोचित रखता हुआ, मन वचन कायकी गुप्तिमें लगा हुआ, एकाग्र मन रखता हुआ विनय सहित होता है। स्वाध्यायके विना इंद्रिय मनका निरोध व स्वरूपमें एकाग्रता तथा रत्नत्रयका विनय नहीं हो सक्ता है। तीर्थंकरादिने जो अभ्यन्तर बारह बारह प्रकारका तप प्रदर्शित किया है उनमें स्वाध्याय करनेके समान न कोई तप है, न कभी हुआ है, न कभी होगा। जैसे सूतमें परोई हुई सुई प्रमाद दोषसे भी नहीं नष्ट होती है अर्थात् भूल जानेपर भी मिल जाती है, वैसे ही जो शास्त्रका अभ्यासी पुरुष है वह प्रमाद दोषसे नष्ट होकर ससाररूपी गर्तमें नहीं पड़ता है। शास्त्रज्ञान सदा ही परिणामोंको मोक्ष मार्गमें उत्साहित रखता है। इसलिये साधुको शास्त्रोंका अभ्यास निरतर करना चाहिये कभी भी शास्त्रका

आलम्बन न छोडना चाहिये। वास्तवमें ज्ञानके विना ममत्वका नाश नहीं हो सक्ता है।

श्री पूज्यपाद महाराज समाधिशतकमें कहते हैं—

यस्य सस्पन्दमाभाति निष्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स समं याति नेतरः ॥ ६७ ॥

भावार्थ—जिसके ज्ञानमें यह चलता फिरता क्रिया करता हुआ जगत ऐसा भासता है कि मानो निश्चल क्रिया रहित है, बुद्धिके विकल्पोंसे शून्य है तथा कार्य और भोगोंसे रहित एक रूप अपने स्वभावमें है उसीके भावोंमें समता प्रैदा होती है। दूसरा कोई समताको नहीं प्राप्त कर सक्ता है।

अतएव यह बात अच्छी तरह सिद्ध है कि साधुपदमें आगम ज्ञानकी बडी आवश्यक्ता है ॥ ९२ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिसको आगमका ज्ञान नहीं है उसके कर्मोंका क्षय नहीं होसक्ता है।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ॥ ९३॥

आगमहीनः श्रमणो नैवात्मानं परं विजानाति।
अविजानन्नर्थान् क्षपयति कर्माणि कथं भिक्षुः ॥ ९३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(आगमहीणो) शास्त्रके ज्ञानसे रहित (समणो) साधु (णेवप्पाणं परं) न तो आत्माको न अन्यको (वियाणादि) जानता है। (अत्थे अविजाणंतो) परमात्मा आदि पदार्थोंको नहीं समझता हुआ (भिक्खू) साधु (किध) किस तरह (कम्माणि) कर्मोंको (खवेदि) क्षय कर सक्ता है।

विशेषार्थ–" गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य, उवओगोवि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा ' श्री गोमटसारकी इस गाथाके अनुसार जिसका भाव यह है कि इस गोमटसार जीव काडमें २० अध्याय हैं, १ गुणस्थान, २ जीवसमास, ३ पर्याप्ति, ४ प्राण, ५ संज्ञा, ६ गतिमार्गणा, ७ इन्द्रिय मा०, ८ काय मा०, ९ योग मा०, १० वेद मा०, ११ कषाय मा०, १२ ज्ञान मा०, १३ संयम मा०, १४ दर्शन मा०, १५ लेश्या मा०, १६ भव्य मा०, १७ सम्यक्त मा०, १८ संज्ञिमा०, १९ आहार, २० उपयोगमें जिसने व्यवहारनयसे आगमको नहीं जाना तथा–

" भिण्णउ जेण ण जाणियउ णियदेहपरमत्थु।
सो अंधउ अवरहंह किं दावरिसइपत्थु ॥

इस दोहा सूत्रके अनुसार जिसका भाव यह है कि जिसने अपनी देहसे परमपदार्थ आत्माको भिन नहीं जाना वह आर्तरौद्रध्यानी किस तरह अपने आत्म पदार्थको देख सक्ता है, समस्त आगममें सारभूत अध्यात्म शास्त्रको नहीं जाना वह पुरुष रागादि दोषोंसे रहित तथा अव्याबाध सुख आदि गुणोंका धारी अपने आत्म द्रव्यको भाव कर्मसे कहने योग्य राग द्वेषादि नाना प्रकार विकल्प जालोंसे निश्चयनयसे भेदको नहीं जानता है और न कर्मरूपी शत्रुको विध्वंश करनेवाले अपने ही परमात्म तत्वको ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मोंसे जुदा जानता है और न शरीर रहित शुद्ध आत्म पदार्थको शरीरादि नोकर्मोंसे जुदा समझता है। इस तरह भेद ज्ञानके न होनेपर यह शरीरमें विराजित अपने शुद्धात्माकी भी रुचि नहीं रखता है और न उसकी भावना सर्व रागादिका त्याग करके करता है, ऐसी दशामें

उसके कर्मोंका क्षय किस तरह होसक्ता है? अर्थात् कदापि नहीं होसक्ता है। इसी कारणसे मोक्षार्थी पुरुषको परमागमका अभ्यास ही करना योग्य है, ऐसा तात्पर्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि शास्त्र ज्ञान जिसको नहीं ऐसा साधु अपने आत्माको भावकर्म द्रव्यकर्म तथा नोकर्मसे भिन्न नहीं जानता हुआ तथा उसके स्व भावका अनुभव न पाता हुआ किसी भी तरह कर्मोंका क्षय नहीं कर सक्ता है, इसलिये साधुको निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंसे पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान होना चाहिये। व्यवहार नयसे जीवादि तत्वोंको बतानेवाले ग्रंथ श्री तत्वार्थसूत्र व उसकी वृत्तियें सर्वार्थ सिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि व श्री गोमटसारादि हैं। कमसे कम इन ग्रन्थोंका तो अच्छा ज्ञान प्राप्त करले जिससे यह जानलेम आ जावे कि कर्मोंका बंधन जीवके साथ किस तरह होता है व कर्मबंधके कारण संसारमें कैसी २ अवस्थाएं भोगनी पड़ती हैं तथा कर्मोंके नाशका क्या उपाय है तथा उसका अंतिम फल मोक्ष है। जब व्यवहार नयसे जान ले तब निश्चयनयकी मुख्यतासे आत्माको सर्व अनात्माओंसे भिन्न दिखलानेवाले ग्रन्थ परमात्मा प्रकाश, समयसार, समाधिशतक, इष्टोपदेश आदि पढ़े जिससे बुद्धिमें भिन्न आत्माकी अनुभूति होने लगे। इस तरह जब शा स्त्रोंका रहस्य समझ जावेगा तब इसके भेदज्ञान हो जायगा। भेद ज्ञानके द्वारा अपने शुद्ध आत्म पदार्थको सबसे जुदा अनुभव करता हुआ साम्यभावरूपी चारित्रको पाकर ध्यानकी अग्निसे कर्मोंका क्षय कर पाता है। इसीलिये साधुको शास्त्रके रहस्यके जाननेकी

अत्यन्त आवश्यक है। भिन्न आत्माके ज्ञानके विना आत्म मनन कभी नहीं हो सक्ता है।

सूत्रपाहुडमें कहा है—

सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्स भवणासण च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णोवि ॥ ३ ॥
सुत्तत्थ जिणभणिय जीवाजीवादि बहुविह अत्थ।
हेयाहेय च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठो ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो शास्त्रोंका जाननेवाला है वही ससारके उपजनेका नाश करता है। जैसे लोहेकी सूई डोरे विना नष्ट होती है परन्तु डोरा सहित होनेपर नष्ट नहीं होती है। सूत्रके अर्थको जिनेन्द्र भगवानने कहा है तथा सूत्रमे जीव अजीव आदि बहुत प्रकार पदार्थोंका वर्णन किया गया है तथा यह बताया गया है कि त्यागने योग्य क्या है तथा ग्रहण करने योग्य क्या है ? जो सूत्रको जानता है वही सम्यग्दृष्टी है।

इस लिये आगमज्ञानको बडा भारी अवलम्बन मानना चाहिये। विना इसके स्वपरका ज्ञान नहीं होगा और न स्वात्मानुभाव होगा जो कर्मोंके नाशमे मुख्य हेतु है ॥ ९३ ॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि मोक्ष मार्गपर चलनेवालोंके लिये आगम ही उनकी दृष्टि है—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहि चक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥९४॥

आगमचक्षु साधुरिन्द्रियचक्षूंषि सर्वभूतानि।
सिद्धा पुन सर्वतश्चक्षुष ॥९४॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ –(साहू) साधु महाराज (आगम चक्खू) आगमरूप नेत्रसे देखनेवाले हैं (सव्वभूदाणि) सर्व संसारी जीव (इन्दियचक्खूणि) इन्द्रियोंके द्वारा जाननेवाले हैं (देवा य ओहि चक्खू) और देवगण अवधिज्ञानसे जाननेवाले हैं (पुण) परन्तु (सिद्धा सव्वदो चक्खू) सिद्ध भगवान सब तरफसे सब देखनेवाले हैं।

विशेषार्थ –निश्चय रत्नत्रयके आधारसे निज शुद्धात्माके साधनेवाले साधुगण शुद्धात्मा आदि पदार्थोंका समझानेवाला जो परमागम है उसकी दृष्टिसे देखनेवाले होते हैं। सर्व संसारी जीव सामान्यसे निश्चयनयसे यद्यपि अतीन्द्रिय और अमूर्त केवल ज्ञानादि गुण स्वरूप हैं तथापि व्यवहार नयसे अनादि कर्मबंधके वशसे इन्द्रियातीत होनेके कारणसे इन्द्रियोंके द्वारा जाननेवाले होते हैं। चार प्रकारके देव सूक्ष्म मूर्तीक पुद्गल द्रव्यको जाननेवाले अवधिज्ञानके द्वारा देखनेवाले होते हैं परन्तु सिद्ध भगवान शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमई जो–अपने जीव अर्थात्‌के भरे हुए लोकाकाशके प्रमाण शुद्ध असंख्यात प्रदेश–उन सब प्रदेशोंसे देखनेवाले हैं इससे यह बात कही गई है कि सब शुद्धात्माके प्रदेशोंमें देखनेकी योग्यताकी उत्पत्तिके लिये मोक्षार्थी पुरुषोंको उस स्वसंवेदन ज्ञानकी ही भावना करनी योग्य है जो निर्विकार है और परमागमके उपदेशसे उत्पन्न होता है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने साधुको चारित्र पालनेके लिये आगम ज्ञानकी और भी आवश्यकता बता दी है और यह बता दिया है कि यद्यपि साधुके सामान्य मनुष्योंकी तरह इन्द्रियां हैं और मन है, परन्तु उनसे वह ज्ञान नहीं होसक्ता जिसकी आवश्यक्ता

द्वारा जाने जाते हैं, क्योंकि श्रुतज्ञान रूप आगम केवलज्ञानके समान है। आगम द्वारा पदार्थोंको जान लेनेपर जब स्वसंवेदन ज्ञान या स्वात्मानुभव पैदा हो जाता है तब उस स्वसंवेदनके बलसे जब केवल ज्ञान पैदा होता है तब वे ही सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष होजाते हैं। इस कारणसे आगमकी चक्षुसे परम्परा सर्व ही दीख जाता है।

भावार्थ–इस गाथामें यह ज्ञान बताई है कि श्रुतज्ञान व शास्त्रज्ञानमें बड़ी शक्ति है। जैसे केवलज्ञानी सर्व पदार्थोंको जानते हैं वैसे श्रुतज्ञानी सर्व पदार्थोंको जानते हैं। केवल अंतर यह है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। अरहंतकी वाणीसे जो पदार्थोंका स्वरूप प्रगट हुआ है उसीको गणधरोंने धारणामें लेकर आचारांग आदि द्वादश अंगकी रचना की। उसके अनुसार उनके शिष्य प्रशिष्योंने और शास्त्रोंकी रचना की। जैन शास्त्रोंमें वही ज्ञान मिलता है जो केवली महाराजने प्रत्यक्ष जानकर प्रगट किया। इसलिये आगमके द्वारा हम सब कुछ जानने योग्य जान सक्ते हैं।

वास्तवमें जानने योग्य इस लोकके भीतर पाए जानेवाले छः द्रव्य हैं–अनंतानंत जीव, अनंतानंत पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असंख्यात काल द्रव्य। इन सबका स्वरूप जानना चाहिये–कि इनमें सामान्य गुण क्या क्या है तथा विशेष गुण क्या क्या हैं? आगम अच्छी तरह बता देता है कि अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व ये छः प्रसिद्ध सामान्य गुण हैं। तथा चेतनादि जीवके विशेष गुण, स्पर्शादि पुद्गलके विशेष गुण, गति सहकारी धर्मका विशेष गुण, स्थिति सहकारी अधर्मका, अवकाश दान सहकारी आकाशका, वर्तना सहकारी कालका विशेष

है । चारित्ररूपी नाव है, ध्यानरूपी हवा है ज्ञानरूपी नाविक चलानेवाला है । इन तीनोंकी सहायतासे भव्य जीव संसार सागरको तिर जाते हैं । जैसे चलानेवाले नाविकके बिना नाव समुद्रमें ठीक नहीं चल सक्ती और न इच्छित स्थानको पहुंच सक्ती है । नाविकका होना जैसे अत्यन्त जरूरी है वैसे ही आगमज्ञानकी आवश्यक्ता है । बिना इसके मोक्षमार्गको देख ही नहीं सक्ता, तब चलेगा कैसे व पहुंचेगा कैसे ।

केवलज्ञानकी प्राप्तिका साक्षात कारण स्वात्मानुभव स्वसंवेदन ज्ञान है और स्वसंवेदनका कारण शास्त्रोक्त यथार्थ ज्ञान है । इस लिये ज्ञानके बिना मोक्षमार्गका लाभ नहीं होसक्ता है ॥ ५४ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि आगमके लोचनमें सर्व दिखता है —

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं ।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता तेवि ते समणा ॥ ५५ ॥

सर्वे आगमसिद्धा अर्था गुणपर्यायैश्चित्रैः ।
जानन्त्यागमेन हि दृष्ट्वा तानपि ते श्रमणाः ॥ ५६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(चित्तेहिं गुण पज्जएहिं) नाना प्रकार गुण पर्यायोंके साथ (सव्वे अत्था) सर्व पदार्थ (आगमसिद्धा) आगमसे जाने जाते हैं । (आगमेण) आगमके द्वारा (हि) निश्चयसे (तेवि) तिन सबको (पेच्छित्ता) समझकर (जाणंति) जो जानते हैं (ते समणा) वे ही साधु हैं ।

विशेषार्थ–विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावधारी परमात्म पदार्थको लेकर सर्व ही पदार्थ तथा उनके सर्व गुण और पर्याय परमागमके

जिन आगमको स्याद्वाद भी कहते हैं। क्योंकि इसमें पदार्थोंके भिन्न२ स्वभावोंको भिन्न२ अपेक्षाओंसे बताया गया है।

श्री समन्तभद्राचार्य आप्तमीमांसामें स्याद्वादको केवलज्ञानके समान बताते हैं, जैसे—

स्याद्वाद केवलज्ञाने सर्वतत्वप्रकाशने।
भेद साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतम भवेत् ॥ १०५ ॥

भावार्थ—स्याद्वाद और केवलज्ञानमें सर्व तत्वोंके प्रकाशनेकी अपेक्षा समानता है, केवल प्रत्यक्ष और परोक्षका ही भेद है। यदि दोनोंमेंसे एक न होय तो वस्तु ही न रहे। जो पदार्थ केवलज्ञानसे प्रगट होते हैं उन सबको परोक्षरूपसे शास्त्र बताता है। इसलिये सर्व द्रव्य गुण पर्यायोंको दोनो बताते हैं—केवलज्ञान न हो तो स्याद्वादमय श्रुतज्ञान न हो—और यदि स्याद्वादमय श्रुतज्ञान न हो तो केवलज्ञान सबको जानता है यह बात कौन कहे। जो जिनवाणीसे तत्वोंको निश्चय तथा व्यवहार नयसे ठीक २ समझ लेता है वह ज्ञानापेक्षा परम सन्तुष्ट होजाता है। जैसे केवलज्ञानी ज्ञानापेक्षा निराकुल और संतोषी है वैसे शास्त्रज्ञानी भी निराकुल और संतोषी होजाता है। मूलाचार अनागार भावनामें कहा है कि साधु ऐसे ज्ञानी होते हैं—

सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी।
णिउणत्थ सत्थकुसला परमपदवियाणया समणा ॥६७॥

भावार्थ—श्रुतरूपी रत्नसे जिनके कान भरे हुए हैं अर्थात् जो शास्त्रके ज्ञाता हैं, हेतु और नयके ज्ञाता पंडित हैं, तीव्र बुद्धि वाले हैं, अनेक सिद्धांत व्याकरण, तर्क, साहित्यादि शास्त्रोंमें कुशल

गुण है। गुणोंमें जो परिणाम या अवस्थाएं होती हैं वे ही पर्याय हैं। जैसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, श्यामवर्ण पीतवर्ण आदि।

आगमके द्वारा हमको छः द्रव्योंके गुणपर्याय प्रगट व विदित होजाते हैं तथा हम अच्छी तरह जान लेते हैं कि छः द्रव्योंमें एक दूसरेसे बिल्कुल भिन्नता है तथा हम यह भी जान लेते हैं कि आत्मामें अनादिकालीन कर्म बंधका प्रवाह चला आया है इसलिये यह संसारी आत्मा अशुद्धताको भोगता हुआ रागी द्वेषी मोही होकर पाप व पुण्यको बांधता है तथा उसके फलसे सुख दुःखको भोगता है।

व्यवहार व निश्चयनयसे छः द्रव्योंका ज्ञान आगमसे होजाता है। पदार्थोंमें नित्यपना है, अनित्यपना है, अस्तिपना है, नास्तिपना है, एकपना है, अनेकपना है, आदि अनेक स्वभावपना भी आगमके बलसे मालूम होजाता है। पदार्थोंके जाननेका प्रयोजन यही है जो हम अपने आत्माको सर्व अन्य आत्माओंसे व पुद्गलादि द्रव्योंसे, व रागादिक नैमित्तिक भावोंसे जुदा एक शुद्ध स्फटिकमय अपने स्वाभाविक ज्ञानदर्शनादि गुणोंका पुंज जानकर उसके स्वरूपका भेद मालूम करके भेदज्ञानी होजाव जिससे हमको वह स्वसंवेदन ज्ञान व स्वानुभव हो जावे जिसके प्रतापसे यह आत्मा कर्मबंधको काटकर केवलज्ञानी हो जाता है। तब जिन पदार्थोंको कुछ गुण पर्यायों सहित क्रम क्रमसे परोक्ष ज्ञानसे जानता था उन सर्व पदार्थोंको सर्व गुण पर्यायों सहित बिना क्रमके प्रत्यक्ष ज्ञानसे जान लेता है। वास्तवमें केवलज्ञान प्राप्तिका कारण मति, अवधि व मन:पर्यय ज्ञान नहीं है किन्तु एक श्रुतज्ञान है। इसीलिये जो मोक्षार्थी हैं उनको अच्छी तरह आगमकी सेवा करके तत्वज्ञानी होना चाहिये।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बात दिखलाई है कि परमागमके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जबतक पदार्थोंका ज्ञान होकर उनका नित्य मनन न किया जायगा तबतक मिथ्यात्व कर्म और अनंतानुबंधी कषायका बल नहीं घटेगा। स्याद्वादरूप जिनवाणीमें रमण करनेसे ही सम्यग्दर्शनको रोकनेवाली कर्म प्रकृतियें उपशम होनेकी निकटताको प्राप्त होती हैं, तब यह जीव उन परिणामोंकी प्राप्ति करता है जो समय २ अनंतगुणी विशुद्धताको प्राप्त होते जाते हैं जिनको करणलब्धि कहते हैं। चाहे जितना भी शास्त्रोंका ज्ञाता है जबतक वह मंद कषायमें भेद विज्ञानका अभ्यास न करेगा और संसार शरीर भोगसे उदासपनेकी भावना न भाएगा तबतक करणलब्धिका पाना दुर्लभ है। करणलब्धिके अंतर्मुहूर्ततक रहनेसे ही अनादि मिथ्यादृष्टीके पांच व सादि मिथ्यादृष्टीके कभी सात व कभी पांच प्रकृतियोंके उपशम होनेसे उपशम सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। जिस समय तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है उस समय तक शास्त्रका ज्ञान ठीक होनेपर भी वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जासक्ता है। सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान एक ही समयमें होजाते हैं और इनके होनेपर ही उसीसमय स्वरूपाचरण चारित्र अर्थात् स्वानुभव भी होजाता है। इन तीनोंका अविनाभाव सम्बन्ध है। अनंतानुबंधी कषाय चारित्र मोहनीय है, क्योंकि वह सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाली स्वरूपाचरणरूप स्वानुभूतिको रोकता है। उसके उपशम होने ही सम्यग्चारित्र भी होजाता है।

यद्यपि सम्यग्दर्शनके होते हुए यथार्थ ज्ञान और यथार्थ चारित्र होजाता है तथापि पूर्ण ज्ञान और पूर्ण चारित्र नहीं होता

है वे ही साधु परमपदरूप मुक्तिके स्वरूपके ज्ञाता होते हैं। वास्तवमें जो आगमके ज्ञाता हैं वे सर्वप्रयोजनभूत तत्त्वोंके ज्ञाता हैं।

इस तरह आगमके अभ्यासको कहते हुए प्रथम स्थलमें चार सूत्र पूर्ण हुए ॥ ९९ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आगमका ज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान तथा श्रद्धान ज्ञानपूर्वक चारित्र इन तीनकी एकता ही मोक्षमार्ग है।

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स ।
णत्थित्ति भणइ सुत्तं असंजदो हवदि किध समणो ॥७६॥

आगमपूर्वादृष्टिर्न भवति यस्येह संयमस्तस्य ।
नास्तीति भणति सूत्रमसंयतो भवति कथं श्रमणः ॥७६॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(इह) इसलोकमें (जस्स) जिस जीवके (आगमपुव्वा) आगमज्ञान पूर्वक (दिट्ठी) सम्यग्दर्शन (ण भवदि) नहीं है (तस्स) उस जीवके (संजमो णत्थित्ति सुत्तं भणइ) संयम नहीं है ऐसा सूत्र कहता है। (असंजदो) जो असंयमी है वह (किध) किस तरह (समणो) श्रमण या साधु (हवदि) होसक्ता है?

विशेषार्थ—दोषरहित अपना शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है। ऐसी रुचि सहित सम्यग्दर्शन जिसके नहीं है वह परमागमके बलसे निर्मल एक ज्ञान स्वरूप आत्माको जानते हुए भी न सम्यग्दृष्टि है और न सम्यग्ज्ञानी है। इन दोनोंके अभाव होते हुए पचेंद्रियोंके विषयोंकी इच्छा तथा छः प्रकार जीवोंके वधसे अलग रहनेपर भी कोई जीव संयमी नहीं होसक्ता है। इससे यह सिद्ध किया गया कि परमागम ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमपना ये तीनों ही एक साथ मोक्षके कारण होते हैं।

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊण।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंग जिणाणाए ॥ ७३ ॥

भावार्थ—जो पहले मिथ्यात्व अज्ञान आदि दोषोंको त्यागकर अपने भावोंमें नग्न होकर एक रूप शुद्ध आत्माका श्रद्धान ज्ञान आचरण करता है वही पीछे द्रव्यसे जिन आज्ञा प्रमाण बाहरी नग्न भेष मुनिका प्रगट करे, क्योंकि धर्मका स्वभाव भी यही है। जैसा वहीं कहा है—

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
ससारतरणहेदू धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठ ॥ ८५ ॥

भावार्थ—रागादि सकल दोषोंसे छोड़कर आत्माका आत्मामे रत होना सो ही ससार समुद्रसे तारनेका कारण धर्म है ऐसा जिनेन्द्रोंने कहा है।

जो रत्नत्रय धर्मका सेवन करतीं है वही साधु होसक्ता है ॥९६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आगमका ज्ञान, तत्त्वार्थका श्रद्धान तथा सयमपना इन तीनोंका एक कालपना व एक साथपना नहीं होवे तो मोक्ष नहीं होसक्ती है।

णहि आगमेण सिज्झदि सद्दहण जदि ण अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असजदो वा ण णिव्वादि ॥ ९७ ॥

न ह्यागमेन सिद्ध्यति श्रद्धान यदि नास्त्यर्थेषु।
श्रद्धधान अर्थानसयतो वा न निर्वाति ॥ ९७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जदि) यदि (अत्थेसु सद्दहण ण अत्थि) पदार्थोंमें श्रद्धान नहीं होवे तो (णहि आगमेन सिद्ध्यति) मात्र आगमके ज्ञानसे सिद्ध नहीं होसक्ता है। (अत्थे सद्दहमाणो)

है। क्योंकि ज्ञानावरणीय और मोहनीय कर्मोंका उदय अभी विद्यमान है। इन्हीं कर्मोंके नाशके लिये सम्यग्दृष्टिकी स्वानुभूतिकी रुचि प्राप्त होजाती है। कषायोंके कारणसे यद्यपि सम्यग्दृष्टि गृहस्थको गृहस्थधर्ममें, राज्यकार्यमें, व्यापारमें, शिल्पमें व कृषिकर्म आदिमें वर्तन करना पड़ता है तथापि वह अनन्तमें इनकी ऐसी गाढ़ रुचि नहीं रखता है जैसी गाढ़रुचि उसको स्वानुभव करनेकी होती है इसलिये वह अपना समय स्वानुभव करनेके लिये निराकुल रहता है। इसी स्वानुभवके अभ्याससे सत्तामें स्थित कषायोंकी शक्ति घटती जाती है। जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय दब जाता है तब वह बाहरी आकुलता घटनेको श्रावकके बारह व्रतोंको पालने लगता है। इसी तरह स्वानुभवका अभ्यास भी बढ़ता जाता है। इस बढ़ने हुए स्वरूपाचरणके प्रतापसे जब प्रत्याख्यानावरण कषाय भी दब जाते हैं तब मुनिका पद धारणकर तथा सर्व परिग्रहका त्याग कर परम वीतरागी हो आत्मध्यान करता है और उसी समय उसको यथार्थ श्रमण या मुनि कहते हैं। इसीलिये यदि कोई सम्यक्तके बिना इंद्रियदमन करे, प्राणी-रक्षा पाले, साधुके सर्व बाहरी चारित्रका अभ्यास करे तब भी वह संयमी नहीं होसक्ता है, क्योंकि वह न स्वरूपाचरणको पहचानता है और न उसकी प्राप्तिका यत्न ही करता है। इसलिये यही मोक्षमार्ग है, जहां सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र तीनों एक साथ हों, इसी मार्गपर जो आरूढ़ है वही संयमी है या साधु है। जबतक भावमें सम्यग्दर्शन नहीं होता है तबतक साधुपना नहीं होता है। भावपाहुड़में स्वामी कुन्दकुन्दने कहा है—

भावार्थ यह है–जो जीव द्रव्यको क्षणिक मानते उनके मतमें मोक्ष नहीं सिद्ध होती अथवा जो जीव द्रव्यको पर्याय रहित कूटस्थ नित्य मान लेते हैं उनके मतमें भी ससारावस्थामें मोक्षावस्था नहीं बन सकी परन्तु जो द्रव्य पर्यायरूप अथवा नित्यानित्यरूप जीवको मानते हैं वहीं आत्माकी अवस्था होसकी है। ऐसा जीव द्रव्यको मानते हुए जब इस जीवके "अपना शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है' ऐसी रुचि पैदा होजाती है, तबसे उसमें अन्तरात्मावस्था पैदा हो जाती है। यही अवस्था मोक्षका हेतु है। इसी कारण रूप भावका ध्यान करते करते यह आत्मा गुणस्थानोंकी परिपाटीके क्रमसे अरहत परमात्मा होकर फिर गुणस्थानोंसे बाहर परमात्मा होजाता है॥९७॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि परमागम ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान तथा संयमीपना इन भेदरूप रत्नत्रयोंके मिलाप होनेपर भी जो अभेद रत्नत्रय स्वरूप निर्विकल्प समाधिमई आत्मज्ञान है वही निश्चयसे मोक्षका कारण है—

ज अण्णाणी कम्म खवेद भवसयसहस्सकोडीहिं।
त णाणी तिहिं गुत्तो खवेद उस्सासमेत्तेण ॥ ९८ ॥
यदज्ञानी कर्म्म क्षपयति भवशतसहस्रकोटिभि ।
तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्त क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ ५८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(अण्णाणी) अज्ञानी (ज कम्म) जिस कर्मको (भवसयसहस्सकोडीहिं) एकलाखकरोडभवोंमें (खवेद) नाश करता है। (त) उस कर्मको (णाणी) आत्मज्ञानी (तिहिंगुत्तो) मन वचन काय तीनोंकी गुप्ति सहित होकर (उस्सासमेत्तेण) एक उच्छ्वास मात्रमें (खवेइ) क्षय कर देता है।

परमात्मा अवस्था या मोक्ष-अवस्था ऐसी तीन अवस्थायें जीवके होती हैं—इन तीनों अवस्थाओंमें जीव द्रव्य बराबर चला जाता है। इस तरह परस्पर अपेक्षासहित द्रव्यपर्यायरूप जीव पदार्थको जानना चाहिये। अब यहां मोक्षका कारण विचार करते हैं। मिथ्यात्व रागादि रूप जो बहिरात्मा अवस्था है वह तो अशुद्ध है इसलिये मोक्षका कारण नहीं होसकती है। मोक्षावस्था तो शुद्धात्मा रूप अनंत फलरूप है यानि सबसे उत्कृष्ट है। इन दोनों बहिरात्मावस्था और मोक्षावस्थासे भिन्न जो अंतरात्मावस्था है वह मिथ्यात्व रागादिसे रहित होनेके कारणसे शुद्ध है। जैसे सूक्ष्म निगोदिया जीवके ज्ञान और ज्ञानावरणीयका आवरण होनेपर भी क्षयोपशम ज्ञानका सर्वथा आवरण नहीं है तैसे इस अंतरात्मा अवस्थामें केवलज्ञानावरणके होते हुए भी एक देश क्षयोपशम ज्ञानकी अपेक्षा आवरण नहीं है। जितने अंशमें क्षयोपशम ज्ञानावरणसे रहित होकर तथा रागादि भावोंसे रहित होकर शुद्ध है उतने अंशमें वह अंतरात्मारूप वैराग्य और ज्ञान मोक्षका कारण है। इस अवस्थामें शुद्ध पारिणामिक भाव स्वरूप जो परमात्मा द्रव्य है वह तो ध्यान करनेके योग्य है। सो परमात्मा द्रव्य इस अंतरात्मापनेकी ध्यानकी अवस्था विशेषसे किसी अपेक्षा भिन्न है। यदि एकांतसे अंतरात्मावस्था और परमात्मावस्थाको अभिन्न या अभे- माना जायगा तो मोक्षमें भी ध्यान प्राप्त होजायगा अथवा इस ध्यान पर्यायके विनाश होते हुए पारिणामिक भावका भी विनाश होजायगा, सो हो नहीं सक्ता। इस तरह बहिरात्मा अंतरात्मा तथा परमात्माके कथन रूपसे मोक्षमार्ग जानना चाहिये।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि आत्मज्ञान ही यथार्थ मोक्षका मार्ग है, क्योंकि आत्मज्ञानके प्रभावसे ज्ञानी जीव करोडों भवोंमें क्षय करने योग्य कर्म बंधनोंको क्षण मात्रमें क्षय कर डालता है। आत्मज्ञान रहित जिन कर्मोंको करोडों जन्म ले लेकर और उनका फल भोग भोगकर क्षय करता है उन कर्मोंको ज्ञानी जीव बिना ही उनका फल भोगे उनकी अपनी सत्तासे निर्जरा कर डालता है। यह आत्मज्ञान निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है। यही स्वानुभव है। यह निश्चय सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यग्चारित्र है। यही ध्यानकी अग्नि है जिसकी तीव्रतासे भरत चक्रवर्तीने एक अंतर्मुहूर्तमें चारों घातिया कर्मोंका क्षय कर डाला। जिनको यह स्वानुभवरूप आत्मज्ञान नहीं प्राप्त है वे व्यवहार रत्नत्रयके धारी हैं तौ भी मोक्षमार्गी नहीं हैं।

वृत्तिकारने आत्मज्ञान प्राप्त होनेकी सीढ़ियां बताई हैं पहली (१) सीढ़ी यह है कि जिनवाणीको अच्छी तरह पढ़कर हमें सात तत्त्वोंको जानकर उनका श्रद्धान करना चाहिये तथा विषय कषायोंके घटानेके लिये मुनि वा गृहस्थके योग्य व्रतादि पालना चाहिये। (२) दूसरी सीढ़ी यह है कि सिद्ध परमात्माका ज्ञान, श्रद्धान करके उनके ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। (३) तीसरी सीढ़ी यह है कि अपने ही आत्माके निश्चयसे शुद्ध परमात्मा जानना, श्रद्धान करना व रागादि छोड उसीकी भावना भानी। (४) चौथी सीढ़ी यह है कि विकल्प रहित स्वानुभव प्राप्त करना। जहां यद्यपि श्रद्धान ज्ञान, चारित्र है तथापि कोई विकल्प या विचार नहीं है मात्र अपने स्वरूपानंदमें मग्नता है। यही आत्मज्ञान है। यह सीढ़ी साक्षात्

विशेषार्थ–निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय रत्नत्रयमइ विशेष भेद ज्ञानको न पाकर अज्ञानी जीव करोड़ों जन्मोंमें जिस कर्मबंधको क्षय करता है उस कर्मको ज्ञानी जीव तीन गुप्तिमें गुप्त होकर एक उच्छ्वासमें नाश कर डालता है। इसका भाव यह है कि ज्ञानी जीवादि पदार्थोंके स्वरूपमें जो सम्यग्ज्ञान परमागमके अभ्यासके द्वारा होता है तथा जो उनका श्रद्धान होता है और श्रद्धान ज्ञानपूर्वक व्रत आदिका चारित्र पाया जाता है, इन तीन रूप व्यवहार रत्नत्रयके आधारसे सिद्ध परमात्माके स्वरूपमें सम्यक् श्रद्धान तथा सम्यग्ज्ञान होकर उनके गुणोंका स्मरण करना इसीके अनुकूल जो चारित्र होता है। फिर भी इसी प्रकार इन तीनोंके आधारसे जो उत्पन्न होता है। निर्मल अखंड एक ज्ञानाकार रूप अपने ही शुद्धात्मामें जानन रूप सविकल्प ज्ञान तथा "शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है" ऐसी रुचिका विकल्प रूप सम्यग्दर्शन और इसी ही आत्माके स्वरूपमें रागादि विकल्पोंको छोड़ते हुए जो सविकल्प चारित्र फिर भी इन तीनोंके प्रसादसे जो उत्पन्न होता है निर्विकल्प रहित समाधिरूप निश्चय रत्नत्रयमइ विशेष स्वसंवेदन ज्ञान उसको न पाकर अज्ञानी जीव करोड़ों जन्मोंमें जिस कर्मका क्षय करता है उस कर्मको ज्ञानी जीव पूर्वमें कहे हुए ज्ञान गुणके होनेसे मन वचन कायकी गुप्तिमें लवलीन होकर एक श्वास मात्रसे ही या लीला मात्रसे ही नाश कर डालता है। इससे यह बात जानी जाती है कि परमागम ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान तथा संयमीपना इन व्यवहार रत्नत्रयोंके होनेपर भी अभेद या निश्चय रत्नत्रय स्वरूप स्वसंवेदन ज्ञानकी ही मुख्यता है।

भावार्थ—जो पर द्रव्योंमें लीन है वह बंधको प्राप्त होता है, परन्तु जो विरक्त है वह नानाप्रकार कर्मोंसे मुक्त होजाता है ऐसा जिनेन्द्रका उपदेश बंध मोक्षके सम्बन्धमें संक्षेपसे जानना चाहिये ॥९८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं जो पूर्व सूत्रमें कहे प्रमाण आत्मज्ञानसे रहित है उसके एक साथ आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान तथा संयमपना होना भी कुछ कार्यकारी नहीं है। मोक्ष प्राप्तिमें अकिंचित्कर है —

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरोवि ॥९९॥

परमाणु प्रमाण वा मूर्छा देहादिकेषु यस्य पुनः।
विद्यते यदि स सिद्धिं न लभते सर्वागमधरो पि॥ ५६॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(पुणो) तथा (जस्स) जिसके भीतर (देहादियेसु) शरीर आदिकोंमें (परमाणुपमाणं वा) परमाणु मात्र भी (मुच्छा) ममत्वभाव (जदि विज्जदि) यदि है तो (सो) वह साधु (सव्वागम धरो वि) सर्व आगमको जाननेवाला है तौ भी (सिद्धिं ण लहदि) मोक्षको नहीं पासक्ता है।

विशेषार्थ—सर्व आगमज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान तथा संयमीपना एक कालमें होते हुए जिसके शरीरादि पर द्रव्योंमें ममता जरासी भी है उसके पूर्व सूत्रमें कहे प्रमाण निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय रत्नत्रय मई स्वसंवेदनका लाभ नहीं है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि तत्वज्ञानी साधुको सर्व प्रकारसे रागद्वेष या ममत्वभावसे शून्य होकर ज्ञान वैराग्यसे परिपूर्ण होजाना चाहिये। सिवाय अपने

मुक्ति सुन्दरीके महलमें पहुंचानेवाली है, अतएव जिनको यह चौथी सीढ़ी प्राप्त है वे ही कर्मोंको दग्धकर केवलज्ञानी हो जाते हैं।

स्वानुभव रूप सीढ़ीका लाभ अविरत सम्यग्दर्शनके चौथे गुणस्थानमें ही होजाता है क्योंकि स्वानुभव दशा शक्तिके अभावमें अधिक कालतक "जबतक क्षपक श्रेणीपर नहीं चढ़े" नहीं रह सक्ती है इसलिये अभ्यास करनेवालेको साधक अवस्थामें नीचेकी तीन सीढ़ियोंका भी आलम्बन लेना पड़ता है। आत्मस्वरूपमें तन्मयता ही अपूर्व काम करती है। कहा है—

दतेंदिया महरिसी राग दोस च ते खवेदूर्ण ।
झाणोवओगजुत्ता खवेंति कम्म खविदमोहा ॥ ८८१ ॥

भावार्थ—जो महाऋषी इन्द्रियोंको दमन करते हुए राग द्वेषोंको त्यागकर ध्यानके उपयोगमें तन्मय हो जाते हैं वे मोह कर्मको नाश कर फिर सर्व कर्मोंको नाश कर डालते हैं।

प० आशाधर अनगारधर्मामृतमें कहते हैं—

अहो योगस्य माहात्म्य यस्मिन् सिद्धेऽस्ततत्पथ ।
पापान्मुक्त पुमाल्लब्धस्वात्मा नित्यं प्रमोदते ॥ १५८ ॥

भावार्थ—अहो यह ध्यानकी ही महिमा है जिस ध्यानकी सिद्धि होनेपर सर्व विकल्प मार्गको त्यागे हुए पापोंसे मुक्त हो अपने आत्माको अनुभव करता हुआ यह पुरुष नित्य आनन्दमें मग्न रहता है।

वास्तवमें स्वभावकी तन्मयता ही मुक्तिका बीज है। स्वामी कुन्दकुन्द मोक्षपाहुडमें कहते हैं—

परदव्वरओ वज्झदि विरओ मुचेइ विविहकम्मेहिं ।
एसो जिणउवदेसो समासदो बंधमुक्खस्स ॥ १३ ॥

परदव्य देहाई कुणइ ममत्ति च जाम तस्सुवरिं।
परसमयरदो ताव वज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ ३४ ॥

भावार्थ—देहादिक परद्रव्य हैं। जबतक इनके ऊपर ममता करता है तबतक परसमयरत है और नाना प्रकार कर्मोसे बधता है।

दसणणाणचरित्तं जोई तस्सेह णिच्छय भणिय।
जो वेयइ अप्पाण सचेयण सुद्धभावट्ठं ॥ ४५ ॥

भावार्थ—जो शुद्ध भावोंमे स्थित ज्ञानचेतना सहित अपने आत्माको अनुभवमें लेता है उसीके ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र निश्चयनयसे कहे गए हैं।

सारसमुच्चयमें श्री कुलभद्र आचार्य कहते हैं—

निर्ममत्त्व पर तत्त्व निर्ममत्त्व पर सुख।
निर्ममत्त्व पर बीज मोक्षस्य कथित बुधै ॥ २३४ ॥
निर्ममत्त्वे सदा सौख्य ससारस्थितिच्छेदनम्।
जायते परमोत्कृष्टमात्मन सस्थिते सति ॥ २३५ ॥

भावार्थ—ममतारहितपना ही उत्कृष्ट तत्त्व है। यही परम सुख है, यही मोक्षका बीज है ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है। जो आत्मा ममतारहित भावमें स्थिति प्राप्त कर लेता है उसको परम उत्तम ससारकी स्थितिको छेदनेवाला सुख उत्पन्न हो जाता है।

इसलिये जहा पूर्ण स्वस्वरूपमे रमणता न होकर कुछ भी किसी जातिका पर पदार्थसे रागका अश है वह कभी भी मुक्ति नही प्राप्त करसक्ता है। युधिष्ठिरादि पाच पाडव शत्रुजय पर्वतपर आत्मध्यान कर रहे थे जब उनके शत्रुओने गर्म गर्म लोहेके गहने पहनाए तब तीन बडे भाई तो ध्यानमें मग्न निश्चल रहे किंचित् भी किसीकी ममता न करी इसमे वे उसी भवमे मोक्ष होगए, परतु

शुद्ध आत्म द्रव्यके उसके शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणोंके व उसकी शुद्ध सिद्ध पर्यायके और कोई द्रव्य, गुण, पर्याय मेरा नहीं है ऐसा यथार्थ श्रद्धान तथा ज्ञान होना चाहिये–पर पदार्थके आलम्बनमें इन्द्रियोंके द्वारा जो सुख तथा ज्ञान होता है वह न यथार्थ स्वाधीन सुख है, न ज्ञान है, ऐसा दृढ विश्वास जिसको होता है वही सब पदार्थोंसे ममता रहित होकर अपने आत्माके मननमें तन्मयता प्राप्त करता है और आत्माके अभेद रत्नत्रय स्वभावके ध्यानसे मुक्त होजाता है । जो कोई ग्यारह अंग १० पूर्व तक भी जाने परन्तु निज आत्मीक सुख व ज्ञानके सिवाय शरीर व इन्द्रियोंके सुखमें किंचित् भी ममता रक्खे तो वह निर्विकल्प शुद्ध ध्यानको न पाता हुआ कभी भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सक्ता है । उसको तो ऐसा पक्का श्रद्धान होना चाहिये जैसा कि देवसेनाचार्यने तत्त्वसारमें कहा है—

परमाणुमित्तराय जाम ण छंडेइ जोइ समणम्मि ।
सो कम्मेण ण मुच्चइ परमट्ठवियाणवो सवणो ॥ ३ ॥

भावार्थ–जो योगी अपने मनसे परमाणु मात्र भी रागको न छोड़े तो वह साधु परमार्थ ज्ञाता होनेपर भी कर्मोंसे मुक्त नहीं हो सक्ता है ।

ण मुयइ सग भाव ण पर परिणमइ मुणइ अप्पाणं।
सो जीवो सवरण णिज्जरण सो फुड भणिओ ॥ ५५ ॥

भावार्थ–जो अपने आत्मिक भावको न छोड़े और परभावोंमें न परिणमे तथा निज आत्माका ही ध्यान करे सो जीव प्रगटपने संवर और निर्जरा रूप कहा गया है ।

यह संयम विशेष करके होता है। यहां अभ्यंतर परिणामोंकी शुद्धिको भाव संयम तथा बाह्यमें त्यागको द्रव्यसंयम कहते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें संयमके चार विशेषण बताए हैं—(१) त्याग अर्थात् जहां जो कुछ त्याग कर सकता है सो उसे छोड देना चाहिये। जन्मनेके पीछे जो कुछ वस्त्रादि परिग्रह ग्रहण की थी सो सब त्याग देना, भीतरसे औपाधिक भावोंको भी छोड देना, यहां तक कि शरीरसे भी ममता छोड देना सो त्याग है (२) अनारंभ—अर्थात् असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इन छः प्रकारके साधनोंसे आजीविका नहीं करना तथा बुहारी, उखली, चक्की, पानी, रसोई आदि बनानेका आरम्भ नहीं करना, मन वचन कायको आत्माके आराधनमें व संयमके पालनमें लवलीन रखना, गृहस्थके योग्य कोई व्यापार नहीं करना। (३) विषय विरागता—अर्थात् पांचो इन्द्रियोंकी इच्छाओंको रोककर आत्मानंदकी भावनामें तृप्ति पानेका भाव रखना। संसार शरीर व भोगोंमें उदासीनता भजना। (४) कषाय क्षय—क्रोध, मान, माया, लोभ व हास्य, रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुवेद, नपुंसकवेद इन सर्व अशुद्ध भावोंको बुद्धिपूर्वक त्याग देना, अबुद्धिपूर्वक यदि कभी उपज आवें तो अपनी निन्दा गर्हा करके प्रायश्चित्त लेकर भावोंमें वीतरागताको जमाते रहना। ये चार विशेषण जहां होते हैं वहां ही मुनिका संयम होसक्ता है। यहां नियमसे परिणामोंमें भी वैराग्य होता है तथा बाहरी क्रियामें भी-आहार विहार आदिमें भी-यत्नाचार पूर्वक वर्तन पाया जाता है। द्रव्य संयम और भाव संयम तथा इंद्रिय संयम और प्राण संयम जहां हो वही मुनिका संयम

नकुल, सहदेवके मनमें यह राग उपज आया कि हमारे भाई दुःखमें पीडित हैं। इस जरासे राग भावके कारण वे दोनों मुक्ति न पहुचकर सर्वार्थसिद्धिमें गए। इसलिये परम वैराग्य ही सिद्धिका कारण है, न कि केवल शास्त्रज्ञान ॥ ५९ ॥

उत्थानिका—आगे द्रव्य तथा भाव संयमका स्वरूप बताते हैं—

चागो य अणारम्भो विसयविरागो खओ कसायाण।
सो संजमोत्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण ॥ ६० ॥

त्यागश्च निरारम्भो विषयविरागः क्षयः कषायाणाम्।
स संयमेति भणितः प्रव्रज्यायां विशेषेण ॥ ६० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(चागो य) त्याग और (अणारम्भो) व्यापार रहितपना (विसयविरागो) विषयोंसे वैराग्य (कसायाण खओ) कषायोंका क्षय है (सो संजमोत्ति भणिदो) वही संयम है ऐसा कहा गया है। (पव्वज्जाए) तपके समय (विसेसेण) यह संयम विशेषतासे होता है।

विशेषार्थ—निज शुद्धात्माके ग्रहणके सिवाय बाहरी और भीतरी २४ प्रकारकी परिग्रहका त्याग सो त्याग है। क्रिया रहित अपने शुद्ध आत्म द्रव्यमें ठहरकर मन वचन कायके व्यापारोंसे छूट जाना सो अनारम्भ है। इंद्रिय विषय रहित अपने आत्माकी भावनासे उत्पन्न सुखमें तृप्ति प्राप्त करके पंचेन्द्रियोंके सुखोंकी इच्छाका त्याग सो विषय विराग है। कषाय रहित निज शुद्धात्माकी भावनाके बलसे क्रोधादि कषायोंका त्याग सो कषाय क्षय है। इन गुणोंसे संयुक्तपना जो होता है सो संयम है ऐसा कहा गया है। सामान्य करके यह संयमका लक्षण है। तपश्चरणकी अवस्थामें

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पचसमिदो) जो पाच समितियोंका धारी है, (तिगुत्तो) तीन गुप्तिमें लीन है, (पचेंदियसंवुडो) पाच इंद्रियोंका विजयी है, (जिदकसाओ) कषायोंको जितनेवाला है (दंसणणाणसमग्गो) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे पूर्ण है (सो समणो) वह साधु (सजदो) संयमी (भणिदो) कहा गया है।

विशेषार्थ-जो व्यवहार नयसे पाच समितियोंसे युक्त है परन्तु निश्चय नयसे अपने आत्माके स्वरूपमें भले प्रकार परिणमन कर रहा है, जो व्यवहार नयसे मन वचन कायको रोक करके त्रिगुप्त है, परन्तु निश्चय नयसे अपने स्वरूपमें लीन है, जो व्यवहारके स्पर्शनादि पाचों इंद्रियोंके विषयोंमें हटकरके संवृत है, परन्तु निश्चयमें अतींद्रिय सुखके स्वादमें रत है जो व्यवहार करके क्रोधादि कषायोंको जीत लेनेसे जितकषाय है, परन्तु निश्चयनयसे कषाय रहित समाधी भावनामें रत है तथा जो अपने शुद्धात्माका श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन तथा स्वसंवेदन ज्ञान इन दोनोंसे पूर्ण है सो ही इन गुणोंका धारी साधु संयमी है ऐसा कहा गया है। इससे यह सिद्ध किया गया कि व्यवहारसे जो बाहरी पदार्थोंके सम्बन्धरूप व्याख्यान किया गया उससे सविकल्प सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनोंका एक साथ होना चाहिये, भीतरी आत्माकी अपेक्षा व्याख्यानसे निर्विकल्प आत्मज्ञान लेना चाहिये। इस तरह एक ही सविकल्प भेद सहित तीनपना तथा निर्विकल्प आत्मज्ञान दोनों घटता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बात झलका दी है कि आत्मज्ञान या आत्मध्यान ही मुनिपना है तथा यही संयम है जो

है। ऐसा संयमी मुनि जब निज आत्मानुभवमें तल्लीन होकर ध्यानस्थ होता है तब विशेष संयमी हो जाता है, क्योंकि शुभोपयोगसे हटकर शुद्धोपयोगमें जम जाता है जो साक्षात भाव मुनिपना है। भाव मुनिपना ही कर्मकी निर्जराका कारण है। मोक्षपाहुडमें स्वयं आचार्य कहते हैं—

सव्वे कसायमुत्त गारवमयरायदोसवामोहं।
लोयववहारविरदो अप्पा झायइ झाणत्थो ॥ २७ ॥
मिच्छत्त अण्णाण पावं पुण्णं चयवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोइ जोयत्थो जोयए अप्पा ॥ २८ ॥

भावार्थ—सर्व क्रोधादि कषायोंको, गारव अर्थात् रस, ऋद्धि व साताका अहंकार, मद, राग, द्वेष, मोहको छोडकर तथा लौकिक व्यवहारसे विरक्त होकर ध्यानमें ठहरकर आत्माको ध्याना चाहिये तथा मिथ्यात्व, अज्ञान, पुण्य व पाप कर्मको मन वचन कायसे छोडकर योगीको ध्यानमें तिष्ठकर मौन सहित आत्माको अनुभवमें लाना चाहिये ॥ ६० ॥

उत्थानिका—आगे आगमका ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान, संयमपना इन तीनोंकी भेद रूपसे एक कालमें प्राप्ति तथा निर्विकल्प आत्म ज्ञान इन तीनोंका समयपना दिखलाते हैं अर्थात् इन सविकल्प और अविकल्प भावके धारीका स्वरूप बताते हैं—

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेन्दियसंवुडो जिदकसाओ ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥ ६१ ॥
पंचसमितस्त्रिगुप्त पंचेन्द्रियसंवृतो जितकषायः ।
दर्शनज्ञानसमग्र श्रमण स संयतो भणित ॥ ६१ ॥

था कि मैं समिति पाऊ, गुप्ति रक्खूं, इंद्रिय दमूं, कषायोंको जीतूं, सात तत्व ही यथार्थ है, आगमसे ही श्रुतज्ञान होता है तबतक व्यवहार मार्गपर चल रहा था। जब यह विकल्प रह गया कि मेरा आत्मा ही मैं कुछ हूं, यही एक मेरा निजद्रव्य है, उसीमें ही तन्मय होना चाहिये तब वह निश्चय मार्गपर चल रहा है। इस तरह चलते २ अर्थात् आत्माकी भावना करते २ जब स्वानुभव प्राप्त करलेता है तब विचारोंकी तरंगोंसे छूटकर कल्लोल रहित समुद्रके समान निश्चल होजाता है। इसीको आत्मध्यान कहते हैं। यद्यपि यह ध्यान निश्चय और व्यवहार नयके विकल्पसे रहित है तथापि वहा दोनो ही मार्ग गर्भित है। उसने एक आत्माको ही ग्रहण किया है इससे निश्चय मार्ग है तथा उसकी इंद्रिया निश्चल हैं, मन थिर है, कषायोंका वेग नहीं है, गमन भोजन शौचादि नहीं है, तत्वार्थश्रद्धान व आत्मश्रद्धान है, आगमका यथार्थज्ञान है तथा निज आत्माका ज्ञान है, ये सब उस आत्म-ध्यानमें इसी तरह गर्भित है जैसे एक शर्बतमें अनेक पदार्थ मिले हों, एक चटनीमें अनेक मसाले मिले हो, एक औषधिमें अनेक औषधियें मिली हो। इस तरह जहा आत्मज्ञान है उसी समय वहा तत्वार्थश्रद्धान, आगमज्ञान तथा संयमपना है—इन सबकी एकता है। इस एकतामें रमणकर्ता ही संयमी श्रमण है। जैसा श्री नेमिचंद्र सिद्धातचक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमें कहा है—

> दुविहं पि मोक्खहेउ झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
> तम्हा पयत्तचित्ता यूयं झाणं समब्भसह॥

अर्थात्—मुनि ध्यानमें ही निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गको

मुक्तिद्वीपमें लेजाता है। जहां आत्मध्यान होता है वहां निश्चय और व्यवहार दोनों ही मोक्षमार्ग पाए जाते हैं-ईर्या, भाषा, एषणा आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापण इन पांच समितियोंमें यत्नाचारसे वर्तन करू यह तो व्यवहार धर्म है और जहां आत्मध्यानमें मग्नता है वहां ये पांचो ही उसके अपने स्वरूपकी सावधानीमें गर्भित है यह निश्चयधर्म है। मन, वचन कायको दंड करके वश रखू यह व्यवहार धर्म है। अपने आत्म स्वरूपमें गुप्त होजाना निश्चय धर्म है जहां मन वचन कायका वश होना गर्भित है। पांचों इंद्रियोंकी इच्छाओंको निरोधू यह व्यवहार धर्म है, अपने शुद्ध स्वरूपमें मग्न रूप होजाना निश्चय धर्म है वहां इंद्रिय निरोध गर्भित है। क्रोधादि चार कषायोंको वश रक्खू यह व्यवहार धर्म है, कषाय रहित आत्मामें एकरूप होजाना यह निश्चयधर्म है इसमें कषाय विजय गर्भित है। तत्वार्थोंका श्रद्धान करना व्यवहार धर्म है। निज आत्माका परम भिन्न श्रद्धान करना निश्चयधर्म है इसमें तत्वार्थ श्रद्धान गर्भित है आगमका ज्ञान व्यवहार धर्म है, अपने आत्मामें आत्माका अनुभव करना निश्चय धर्म है। इस स्वसंवेदन ज्ञानमें आगमज्ञान गर्भित है।

जब कोई निश्चयधर्ममें आरूढ होजाता है तब व्यवहार मार्ग और निश्चयमार्ग उसमे छूट नहीं जाते, किन्तु उन मार्गोंका विकल्प छूट जाता है। जहां तक विचार है वहां तक मार्गमें चलनेका विकल्प है, जहां आत्मामें थिरता है वहां विचार नहीं है। उस समय जैसे नमककी डली पानीमें डूबकर पानीके साथ एकमेक होजाती है उसी तरह ज्ञानोपयोग आत्माके स्वभावमें डूबकर उससे एकमेक होजाता है। स्वरूपमें थिरता पानेके पहले जबतक व्यवहार धर्मका विकल्प

जिस महात्माके भीतर राजता है वही जैन साधु है। वास्तवमें सुखदुःख मानने, अच्छाबुरा समझने, मान अपमान गिननेके जितने भाव हैं वे सब रागद्वेषकी पर्यायें हैं—कषायके ही विकार हैं। परम तत्त्वज्ञानी साधुने कषायोंको त्याग करके वीतराग भावपर चलना शुरू किया है इसलिये उनके कषायभाव नहीं होते। वे बाहरी अच्छी बुरी दशामें समताभाव रखते हुए उसे पुण्य पापका नाटक जानते हुए अपने निष्कषाय भावसे हटते नहीं। ऐसे साधु आत्मानुभवरूपी समताभावमें तल्लीन रहते हैं इसीसे बाहरी चेष्टाओंमें अपने परिणामोंमें कोई असर नहीं पैदा करते। साधुओंको मुक्ति द्वीपमें जन्मना ही सच्चा जन्म भासता है। शरीरोंका बदलना वस्त्रोंके बदलनेके समान दिखता है। जो भावलिंगी साधु हैं उनके ये ही लक्षण हैं।

सो ही मोक्षपाहुडमें कहा है—

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो शरीरकी ममता रहित है, रागद्वेषसे शून्य है, यह मेरा इस बुद्धिको जिसने त्याग दिया है, व जो लौकिक व्यापारसे रहित है तथा आत्माके स्वभावमें रत है वही योगी निर्वाणको पाता है।

मूलाचार अनगारभावनामें कहा है—

जो सव्वगंथमुक्का अममा अपरिग्गहा जहाजादा।
वोसट्ठचत्तदेहा जिणवरधम्मं समं णेंति ॥ १५ ॥
सव्वारंभणियत्ता जुत्ता जिणदेसिदम्मि धम्मम्मि।
ण य इच्छंति ममत्तिं परिग्गहे वालमित्तम्मि ॥ १६ ॥

चाहिये–साधुओंको स्त्रियोंकी संगति न रखनी चाहिये। कन्या हो, विधवा हो, रानी हो, स्वेच्छा चारिणी हो, साध्वी हो कोई भी स्त्री है। यदि साधु उनके साथ एकांतमें क्षण मात्र भी सहवास करें व वार्तालापादि करे तो अपवाद अवश्य प्राप्त होजाता है।

मूलाचारके समयसार अधिकारमें कहा है—

घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंतअग्गिसमा।
तो महिलेय ढुक्का णट्ठा पुरिसा सिवं गया इयरे ॥१००॥

भावार्थ–पुरुष तो घीसे भरे हुए घटके समान है व स्त्री जलती हुई अग्निके समान है। ऐसी स्त्रीकी संगति करनेवाले, उनके साथ वार्तालाप व हास्यादि करनेवाले अनेक पुरुष नष्ट होगए हैं। जिन्होंने स्त्रियोंकी संगति नहीं की है, वे ही मोक्ष प्राप्त हुए हैं।

चंडो चवलो मन्दो तह साहू पुट्ठिमंसपडिसेवी।
गारवकसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो ॥ ६४ ॥
वेज्जावच्चविहीणं विणयविहूणं च दुस्सदिकुसीलं।
समणं विरागहीणं सुसंजमो साधु ण सेविज्ज ॥ ६५ ॥
दंभं परपरिवादं पिसुणत्तण पावसुत्तपडिसेवं।
चिरपव्वइदंपि मुणी आरंभजुदं ण सेविज्ज ॥ ६६ ॥
चिरपव्वइदं वि मुणी अपुट्ठधम्मं असंपुडं णीचं।
लोइय लोगुत्तरियं अयाणमाणं विवज्जेज्ज ॥ ६ ॥
आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु ॥ ६८ ॥
आयरियत्तण तुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊण।
हिंडइ ढुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थिव्व ॥ ६९ ॥
वीदेहव्व णिब्भं दुज्जणवयणा पलोट्टजिब्भस्स।
वरणयरणिग्गमं पिव वयणकयारं वहंतस्स ॥ ७१ ॥

आइरियत्तणमुवणयइ जो मुणी आगमं ण याणतो ।
अप्पाण पि विणासिय अण्णे वि पुणो विणासेई ॥ ७२ ॥

भावार्थ–इतने प्रकारके साधुओंसे सगति न करनी चाहिये। जो विष वृक्षके समान मारनेवाला रौद्रपरिणामी हो, वचन आदि क्रियाओंमें चपल हो, चारित्रमें आलसी हो, पीठ पीछे चुगली करनेवाला हो, अपनी गुरुता चाहता हो, कषायमे पूर्ण हो ॥६४॥ दुःखी मादे साधुओंकी वैयावृत्त्य न करता हो, पाच प्रकार विनय रहित हो, खोटे शास्त्रोंका रसिक हो, निन्दनीय आचरण करता हो, नग्न होकर भी वैराग्य रहित हो ॥६५॥ कुटिल वचन बोलता हो, पर निंदा करता हो, चुगली करता हो, मारणोच्चाटन वशीकरणादि खोटे शास्त्रोंका सेवनेवाला हो, बहुत कालका दीक्षित होनेपर भी आरम्भका त्यागी न हो, ॥६६॥ दीर्घकालका दीक्षित होकर भी जो मिथ्यात्व सहित हो, इच्छानुसार वचन बोलनेवाला हो, नीचकर्म करता हो, लौकिक और पारलौकिक धर्मको न जानता हो तथा जिससे इसलोक परलोकका नाश हो ॥६७॥ जो आचार्यके सघको छोड़कर अपनी इच्छासे अकेला घूमता हो व जिसको शिक्षा देनेपर भी उस उपदेशको ग्रहण नहीं करता हो ऐसा पाप श्रमण हो, जो पूर्वमें शिष्यपना न करके शीघ्र आचार्यपना करनेके लिये घूमता हो अर्थात् जो मत्त हाथीके समान पूर्वापर विचार रहित ढोढाचार्य हो ॥६९॥ जो दुर्जनकेसे वचन कहता हो, आगे पीछे विचार न कर ऐसे दुष्ट वचन कहता हो जैसे नगरके भीतरसे कूडा बाहर किया जाता हो ॥ ७१ ॥ तथा जो स्वय आगमको न जानता हुआ अपनेको आचार्य थापकर अपने आत्माको और दूसरे आत्माओंका नाश करता हो ॥ ७२ ॥

उत्थानिका-आगे शुभोपयोग प्रकरणमें अनुकम्पाका लक्षण कहते हैं—

तिसिदं वा भुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकम्पा ॥९०॥
तृषितं वा बुभुक्षितं वा दुःखितं दृष्ट्वा यो हि दुःखितमनाः।
प्रतिपद्यते तं कृपया तस्यैषा भवति अनुकम्पा ॥ ९० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(तिसिदं) प्यासे (वा भुक्खिदं) वा भूखे (वा दुहिदं) या दुःखीको (दट्ठूण) देखकर (जो हि) जो कोई निश्चयसे (दुहिदमणो) दुःखित मन होकर (तं) उस प्राणीको (किवया) दया परिणामसे (पडिवज्जदि) स्वीकार करता है-उसका भला करता है (तस्सेसा) उसके ऐसी (अणुकम्पा) अनुकम्पा (हवदि) होती है ।

विशेषार्थ-ज्ञानी जीव ऐसी दयाको अपने आत्मीक भावको नाश न करते हुए संक्लेश भावसे रहित होते हुए करते हैं जब कि अज्ञानी संक्लेश भावसे भी करता है ।

भावार्थ-ज्ञानीको ममत्व न करके उदासीन भावमें सब प्राणियोंको सुख शांति मिले इस मैत्री भावको रखते हुए दुःखी, रोगी, भूखे, प्यासे कोई भी मनुष्य, पशु आदिको देखकर चित्तमें उसके दुःखको मेटनेका भाव लाकर यथाशक्ति उसके दुःखको मेट देना सो करुणा या दया रूप अनुकम्पा है। अज्ञानी किसीको दुःखी देखकर दया भावसे आप भी दुःखी होजाते हैं-अपने भावोंमें करुणापूर्वक आर्तभाव करते हुए उसके दुःखोंको मेटते हैं। जैन शास्त्रोंमें करुणादान बड़ा दान है। हरएक प्राणीको दया

करके इनसे आहार, औषधि, विद्या तथा प्राणदान करना चाहिये। यह शुभ भाव पुण्यबंधका कारण है।

श्री वसुनंदी श्रावकाचारमें करुणादानको बताया है—

अइवुड्ढबालमूयंधवहिरदेसंतरीयरोड्ढ ।
जह जोग्ग दायव्वं करुणादाणेत्ति भणिऊण ॥ २३५ ॥

भावार्थ—बहुत वृद्ध, बालक, गूगा, अंधा, बहरा, परदेशी, रोगी इनको यथायोग्य देना सो करुणादान कहा गया है। पंचाध्यायीमें अनुकम्पाका स्वरूप है—

अनुकम्पा क्रिया ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥ ४४६ ॥

भावार्थ—सर्व प्राणी मात्रपर उपकार बुद्धि रखना व उसका आचरण सो अनुकम्पा कहलाती है, मैत्रीभाव रखना भी दया है, अथवा द्वेष त्याग मध्यमवृत्ति रखना व वैर छोडकर शल्य या कषाय भाव रहित होना भी अनुकम्पा है।

दीनेभ्य क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात् ।
दानेभ्यो दयादानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥ ७३१ ॥

भावार्थ—पात्रोंके सिवाय जो कोई भी दुखी प्राणी अपने पापके उदयसे भूखे, प्यासे, रोगादिसे पीडित हो, दयावानोंको उन्हें दया दान आदि करना चाहिये ॥ ९० ॥

उत्थानिका—आगे लौकिक साधु जनका लक्षण बताते हैं—

णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं ।
सो लोगिगोदि भणिदो संजमतवसंपजुत्तोवि ॥ ९१ ॥

निर्ग्रंथ प्रव्रजितो वर्तते यद्यैहिकैः कर्मभिः ।
स लौकिक इति भणितः संयमतपःसंप्रयुक्तोऽपि ॥ ९१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(णिग्गथ पव्वइगे) निर्ग्रथ पदकी दीक्षासे धारता हुआ (जदि) यदि (एहिगेहि कम्मेहिं) लौकिक व्यापारोंमें (वट्टदि) वर्तता है (सो) वह साधु (सजमतवसपजु तोवि) सयम और तप सहित है तौ भी (लोगिगोदि भणिदो) लौकिक साधु है ऐसा कहा गया है ।

विशेपार्थ–जिसने वस्त्रादि परिग्रहको त्यागकर व मुनि पद की दीक्षालेकर यति पद धारण करलिया है ऐसा साधु यदि निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयके नाश करनेवाले तथा अपनी प्रसिद्धि, बड़ाई व लाभके वढानेके कारण ज्योतिप कर्म, मत्र यत्र, वैद्यक आदि लौकिक गृहस्थोंके जीवनके उपायरूप व्यापारोंके द्वारा वर्तन करता है तो वह द्रव्य सयम व द्रव्य तपको धारता हुआ भी लौकिक अथवा व्यवहारिक कहा जाता है ।

भावार्थ–मुनि महाराजका कर्तव्य मुख्यतासे निश्चय रत्नत्रयकी एकतारूप साम्यभावमे लीन रहता है । तथा यदि वहा उपयोग न ठहरे तो शास्त्र विचार, धर्मोपदेश, वैय्यावृत्त्य आदि शुभोपभोगरूप कार्योंको करना है । ध्यान व अध्ययनमें अपने कालको विताना साधुका कर्तव्य है । यदि कोई साधु गृहस्थोंके समान ज्योतिष कर्म क्रिया करे, जन्मपत्रिका बनाया करे, वैद्यक कर्म द्वारा रोगियोंको औपधियें बताया करे, लौकिक कार्योंके निमित्त मत्र यत्र किया करे, अथवा कृषि, व्यापार आदि कार्योंमें सम्मति दिया करे व कराया करे तो वह साधु बाहरमें चाहे मुनिके अठाईस मूलगुण पालता है व बारह प्रकार तप करता है परन्तु उसका अतरङ्ग लौकिक वासनाओंमे भर जाता है जिससे वह

लौकिक साधु हो जाता है। ऐसा साधु मोक्षके साधनमें शिथिल पट जाता है इसलिये लौकिक है। अतएव ऐसे साधुकी सगति न करनी योग्य है।

कभी कहीं धर्मके आयतनपर विघ्न पडे तब साधु उसके निवारणके लिये उदासीन भावसे मंत्र यंत्र करें तो दोष नहीं है। अथवा धर्म कार्यके निमित्त मुहूर्त देखदें व रोगी धर्मात्माको देखकर उसके रोगका यथार्थ इलाज बतावें अथवा गृहस्थोंके प्रश्न होनेपर कभी कभी अपने निमित्तज्ञानसे उत्तर बतादें। यदि इन बातोंको मात्र परोपकारके हेतुसे कभी कभी कोई शुभोपयोगी साधु करे तो दोष नहीं होसक्ता है। परन्तु यदि नित्यकी ऐसी आदत बनाले कि इससे मेरी प्रसिद्धि व मान्यता होगी तो ये कार्य्य साधुके लिये योग्य नहीं हैं, ऐसा साधु साधु नहीं रहता। श्री मूलाचार समयसार अधिकारमें कहा है कि साधुको लौकिक व्यवहार नहीं करना चाहिये–

अव्ववहारी एक्को झाणे एयग्गमणो भवे णिरारंभो।
चत्तकसायपरिग्गह पयत्तचेट्ठो असंगो य॥ ५।

भावार्थ–जो लोक व्यवहारसे रहित है व अपने आत्माको असहाय जानकर व आरंभ रहित रहकर व कषाय और परिग्रहका त्यागी होता हुआ, अत्यन्त विरक्त मोक्षमार्गकी चेष्टा करता हुआ आत्मध्यानमें एकाग्र मन होता है वही साधु है।

मुनिके सामायिक नामका चारित्र मुख्यतासे होता है। उसीके कथनमें मूलाचार षडावश्यक अधिकारमें कहा है –

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
जीवो सामाइयं णाम संजमट्ठाणमुत्तमं॥ २३॥

भावार्थ–जो सर्व पापकर्मसे रहित है, तीन गुप्ति सहित है, इंद्रियोंको सकोचे हुए है वही जीव सामायिक रूप है व उत्तम संयमका स्थान है । अतएव जो कोई मुनि होकर गृहस्थोंके योग्य व्यापार या व्यवहारमें वर्तता है वह यथार्थ साधु नहीं है, वह लौकिक है, उसके साथ संगति न करनी चाहिये ॥ ९१ ॥

उत्थानिका–आगे यह उपदेश करते हैं कि सदा ही उत्तम संसर्ग करना योग्य है–

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं ।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ॥९२॥
तस्मात्समं गुणात् श्रमणः श्रमणं गुणैर्वाधिकम् ।
अधिवसतु तत्र नित्यं इच्छति यदि दुःखपरिमोक्षम् ॥९२॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(तम्हा) इसलिये (जदि) यदि (समणो) साधु (दुक्ख परिमोक्खं इच्छदि) दुःखोंसे छूटना चाहता है तो (गुणादो समं) गुणोंमें समान (वा गुणेहिं अहियं समणं) वा गुणोंमें अधिक साधुके पास तिष्ठकर (णिच्चं) सदा (तम्हि) उसी ही साधुकी (अधिवसदु) संगति करे ।

विशेषार्थ– नीच साधुकी संगतिसे अपने गुणोंकी हानि होती है इसलिये जो साधु अपने आत्मासे उत्पन्न सुखसे विलक्षण नारक आदिके दुःखोंसे मुक्ति चाहता है, उसको योग्य है कि वह ऐसे साधुकी संगति करे जो निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके साधनमें अपने बराबर हो, या अपनेसे अधिक हो । जैसे–अग्निकी संगतिसे जलके शीतल गुणका नाश हो जाता है तैसे ही व्यवहारिक या लौकिक जनकी संगतिसे संयमीके संयम गुणका नाश हो

जाता है, ऐसा जानकर तपोधनको अपने समान या अपनेसे अधिक गुणधारी तपोधनका ही आश्रय करना चाहिये। जो साधु ऐसा करता है उसके रत्नत्रयमई गुणोंकी-रक्षा अपने समान गुणधारीकी संगतिसे इस तरह होती है जैसे शीतल पात्रमें रखनेसे शीतल जलकी रक्षा होती है। और जैसे उसी जलमें कपूर शक्कर आदि ठंडे पदार्थ और डाल दिये जावें तो उस जलके शीतलपनेकी वृद्धि हो जाती है। उसी तरह निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके साधनमें जो अपनेसे अधिक हैं उनकी संगतिसे साधुके गुणोंकी वृद्धि होती है " ऐसा भाव है। "

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने स्पष्टपने इस बातको दिखा दिया है कि साधुको ऐसी संगति करनी चाहिये जिससे अपने रत्नत्रयरूप धर्ममें कोई कमी न आने—या तो वह धर्म वैसा ही बना रहे या उसमें बढ़वारी हो। अल्पज्ञानीका मन दूसरोंके अनुकरणमें बहुत शीघ्र प्रवर्तता है। यदि खोटी संगति होती है तो उसके ओगुणोंमें जाता है। यदि अच्छी संगति होती है तो उसके गुणोंमें ऐसाढ़ु होता है। वस्त्रको यदि साधारण पिटारीमें रख दिया जावे तो वह न बिगड़कर वैसा ही रहेगा। यदि सुगंधित पिटारीमें रक्खा जावे तो वस्त्रमें सुगंध बढ़ जायगी। इसी तरह समान गुणधारीकी संगतिसे अपने गुण बने रहेंगे तथा अधिक गुणधारीकी संगतिसे अपने गुण बढ़ जायगे। इसलिये जिसने मोक्ष मार्गमें चलना स्वीकार किया है उसको मोक्षपद पर पहुंचनेके लिये उत्तम संगति सदा रखनी योग्य है। गुणवानोंकी ही महिमा होती है। कहा है—कुलभद्राचार्यने सारसमुच्चयमें—

भावार्थ–जो सर्व पापकर्मसे रहित है, तीन गुप्ति सहित है, इंद्रियोंको सकोचे हुए है वही जीव सामायिक रूप है व उत्तम सयमका स्थान है । अतएव जो कोई मुनि होकर गृहस्थोंके योग्य व्यापार या व्यवहारमें वर्तता है वह यथार्थ साधु नहीं है, वह लौकिक है, उसके साथ सगति न करनी चाहिये ॥ ९१ ॥

उत्थानिका–आगे यह उपदेश करते हैं कि सदा ही उत्तम ससर्ग करना योग्य है–

तम्हा सम गुणादो समणो समण गुणेहिं वा अहिय ।
अधिवसदु तम्हि णिच्च इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्ख ॥९२॥
तस्मात्सम गुणात् श्रमण श्रमण गुणैर्वाधिकम् ।
अधिवसतु तत्र नित्य इच्छति यदि दु खपरिमोक्षम् ॥९२॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(तम्हा) इसलिये (जदि) यदि (समणो) साधु (दुक्ख परिमोक्ख इच्छदि) दु खोंसे छूटना चाहता है तो (गुणादो सम) गुणोंमें समान (व गुणेहिं अहिय समण) वा गुणोंसे अधिक साधुके पास तिष्ठकर (णिच्च) सदा (तम्हि) उसी ही साधुकी (अधिवसदु) सगति करो ।

विशेषार्थ–हीन साधुकी सगतिसे अपने गुणोंकी हानि होती है इसलिये जो साधु अपने आत्मासे उत्पन्न सुखसे विलक्षण नारक आदिके दु खोंसे मुक्ति चाहता है, उसको योग्य है कि वह ऐसे साधुकी सगति करे जो निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके साधनमें अपने बराबर हो, या अपनेसे अधिक हो । जैसे–अग्निकी सगतिसे जलके शीतल गुणका नाश हो जाता है तैसे ही व्यवहा-रिक या लौकिक जनकी सगतिसे सयमीके सयम गुणका नाश हो

जाता है, ऐसा जानकर तपोधनको अपने समान या अपनेसे अधिक गुणधारी तपोधनका ही आश्रय करना चाहिये। जो साधु ऐसा करता है उसके रत्नत्रयमई गुणोंकी रक्षा अपने समान गुणधारीकी सगतिमे इस तरह होती है जैसे शीतल पात्रमें रखनेसे शीतल जलकी रक्षा होती है। और जैसे उसी जलमें कपूर शक्कर आदि ठंडे पदार्थ और डाल दिये जावें तो उस जलके शीतलपनेकी वृद्धि हो जाती है। इसी तरह निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके साधनमें जो अपनेसे अधिक हैं उनकी सगतिसे साधुके गुणोंकी वृद्धि होती है "ऐसा भाव है।"

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने स्पष्टपने इस बातको दिखा दिया है कि साधुको ऐसी सगति करनी चाहिये जिससे अपने रत्नत्रयरूप धर्ममें कोई कमी न आवे–या तो वह धर्म वैसा ही बना रहे या उसमे बढ़वारी हो। अल्पज्ञानीका मन दूसरोंके अनुकरणमें बहुत शीघ्र प्रवर्तता है। यदि खोटी सगति होती है तो उसके औगुणोंमें जाता है। यदि अच्छी सगति होती है तो उसके गुणोंमें प्रेमालु होता है। वस्त्रको यदि साधारण पिटारीमे रख दिया जावे तो वह न बिगड़कर वैसा ही रहेगा। यदि सुगंधित पिटारीमें रक्खा जावे तो वस्त्रमें सुगध बढ जायगी। इसी तरह समान गुणधारीकी सगतिमे अपने गुण बने रहेंगे तथा अधिक गुणधारीकी सगतिसे अपने गुण बढ जायगे। इसलिये जिसने मोक्ष मार्गमें चलना स्वीकार किया है उसको मोक्षपद पर पहुंचनेके लिये उत्तम सगति सदा रखनी योग्य है। गुणवानोंकी ही महिमा होती है। कहा है–कुलभद्राचार्यने सारसमुच्चयमें—

गुणा सुपूजिता लोके गुणा कल्याणकारका ।
गुणहीना हि लोकेऽस्मिन् महान्तोऽपि मलीमसाः ॥२७३॥
सद्गुणै गुरुता याति कुलहीनोऽपि मानव ।
निर्गुण सकुलाढ्योऽपि लघुता याति तत्क्षणात् ॥२७४॥

भावार्थ–इस जगतमें गुण ही पूजनीक होते हैं, गुण ही कल्याण करनेवाले होते हैं, जो गुणहीन होवे तो इस लोकमें बड़े पुरुष भी मलीन हो जाते हैं। कुलहीन मनुष्य भी सद्गुणोंके हो हुए बड़ा माना जाता है जब कि कुलवान होकर भी यदि गुणरहि है तो उसी क्षणमे नीचेपनेको प्राप्त हो जाता है ॥ ९२ ॥

उत्थानिका–आगे पाचवें स्थलमें सक्षेपसे ससारका स्वरू मोक्षका स्वरूप, मोक्षका साधन, सर्व मनोरथ स्थान लाभ त शास्त्रपाठका लाभ इन पाच रत्नोंको पाच गाथाओंसे व्याख्या करते हैं। प्रथम ही ससारका स्वरूप प्रगट करते हैं—

जे अजधागहिदत्था एदे तच्चत्ति णिच्छिदा समये ।
अच्चतफलसमिद्ध भमति तेतो पर काल ॥ ९३ ॥
ये अयथागृहीतार्था एते तत्त्वमिति निश्चिता समये ।
अत्यन्तफलसमृद्ध भ्रमन्ति ते अत पर कालं ॥ ९३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ –(जे) जो कोई (अजधागहिदत्था) अन्य प्रकारसे असत्य पदार्थोंके स्वभावको जानते हुए (एदेतच्चत्ति-समये) ये ही आगममें तत्त्व कहे हैं ऐसा (णिच्छदा) निश्चय कर लेते हैं (तेतो) वे साधु इस मिथ्या श्रद्धान व ज्ञानसे अबसे आगे (अचन्तफलसमिद्ध) अनन्त दु खरूपी फलसे भरे हुए ससारमें (पर काल) अनन्त काल (भमति) भ्रमण करते हैं।

विशेषार्थ—जो कोई साधु या अन्य आत्मा सात तत्त्व नव पदार्थोंका स्वरूप स्याद्वाद नयके द्वारा यथार्थ न जानकर औरका और श्रद्धान कर लेते हैं और यही निर्णय कर लेते हैं कि आगममें तो यही तत्व कहे हैं वे मिथ्या श्रद्धानी या मिथ्याज्ञानी जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव स्वरूप पाच प्रकार ससारके भ्रमणसे रहित शुद्ध आत्माकी भावनासे हटे हुए इस वर्तमान कालसे आगे भविष्यमें भी नारकादि दु खोंके अत्यन्त कटुक फलोंसे भरे हुए ससारमे अनन्तकाल तक भ्रमण करते रहते हैं। इसलिये इस तरह ससार भ्रमणमे परिणमन करनेवाले पुरुष ही अभेद नयसे ससार स्वरूप जानने योग्य हैं।

भावार्थ—वास्तवमें जिन जीवोंके तत्वोंका यथार्थ श्रद्धान व ज्ञान नहीं है वे ही अन्यथा आचरण करते हुए पाप कर्मोंको व पापानुबन्धी पुण्य कर्मोंको बाधते हुए नर्क, तिर्यंच, मनुष्य, देव चारों ही गतियोंमें अनतकाल तक भ्रमण किया करते हैं। रागद्वेष मोह ससार है। इन ही भावोंसे आठ कर्मोंका बन्ध होता है। कर्मोंके उदयसे शरीरकी प्राप्ति होती है। शरीरमें वासकर फिर राग द्वेष मोह करता है। फिर कर्मोंको बाधता है। फिर शरीरकी प्राप्ति होती है। इस तरह बराबर यह मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव भ्रमण करता रहता है। आत्मा और अनात्माके भेदज्ञानको न पाकर परमें आत्मबुद्धि करना व सासारिक सुखोंमें उपादेय बुद्धि रखना सो ही मोह है। मोहके आधीन हो इष्ट पदार्थोंमें राग और अनिष्ट पदार्थोंसे द्वेष करना ये ही ससारके कारणीभूत अनन्तानु-बधी कषाय रूप रागद्वेष हैं। इन ही भावोंको यथार्थमें ससार

कहना चाहिये । तैसे ही इन भावोंमें परिणमन करनेवाले जीव भी संसार रूप जानने । अनेक अभव्य जीव मिथ्याश्रद्धाकी गांठको न खोलते हुए मुनि होकर भी पुण्य बांध नौ ग्रैवेयक तक चले जाते हैं परन्तु मोक्षके मार्गको न पाकर कभी भी चतुर्गति भ्रमणसे छुटकारा नहीं पाते हैं । वास्तवमें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही संसारतत्त्व है । जैसा कहा है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ ३ ॥

भावार्थ—तीर्थंकरोंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहा है, जब कि इनके उलटे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसारकी परिपाटीको बतानेवाले हैं ।

श्री अमितिगति महाराजने सुभाषित रत्नसंदोहमें संसारतत्त्व इस तरह बताया है—

दयादमध्यानतपोव्रतादयो गुणाः समस्ता न भवन्ति सर्वथा ।
दुरन्तमिथ्यात्वरजोहतात्मनो रजोयुतालाबुगतं यथा पयः ॥ १३७॥

भावार्थ—जिसकी आत्मामें दुःखदाई मिथ्यादर्शनरूपी रज पड़ी हुई है उसकी आत्मामें जैसे रजसे भरी हुई तूम्बीमें जलकी स्वच्छता नहीं झलकती है वैसे दया, संयम, ध्यान, तप व व्रतादि गुण सब ही सर्वथा नहीं प्रगट हो सकते हैं—

दधातु धर्मं दशधा तु पावनं करोतु भिक्षाशनमस्तदूषणम् ।
तनोतु योगं धृतचित्तविस्तरं तथापि मिथ्यात्वयुतो न मुच्यते १४२
ददातु दानं बहुधा चतुर्विधं करोतु पूजामतिभक्तितोऽर्हताम् ।
दधातु शीलं तनुतामभोजनं तथापि मिथ्यात्ववशो न सिद्ध्यति१४३

अवैतु शास्त्राणि नरो विशेषतः करोतु चित्राणि तपांसि भावतः ।
अतत्त्वसंसक्तमनास्तथापि नो विमुक्तसौख्यं गतबाधमश्नुते ॥१४४

भावार्थ—कोई चाहे क्षमादि दश प्रकार धर्मको पालो व निर्दोष भिक्षासे भोजन ग्रहण करो, व चित्तके विस्तारको रोककर ध्यान करो तथापि मिथ्यात्व सहित जीव कभी मुक्ति नहीं पासक्ता है। तरह २ से चार प्रकार दान चाहे देओ, अति भक्तिसे अर्हंतोकी भक्ति करो, शील पालो, उपवास करो तथापि मिथ्यादृष्टी सिद्धि नहीं पासक्ता है। कोई मनुष्य चाहे खूब शास्त्रोंको जानो व भावसे नाना प्रकार तपस्या करो तथापि जिसका मन मिथ्यातत्त्वोंमें आसक्त है वह कभी भी बाधारहित मोक्षके आनन्दको नहीं भोग सक्ता है।

विचित्रवर्णाञ्चितचित्रमुत्तमं यथा गताक्षो न जनो विलोकयते ।
प्रदर्श्यमानं न तथा प्रपद्यते कुदृष्टिजीवो जिननाथशासनम् ॥१४५

भावार्थ—जैसे नाना प्रकार वर्णोंसे रचित उत्तम चित्रको अंधा पुरुष नहीं देख सक्ता है वैसे ही मिथ्यादृष्टी जीव जिनेन्द्रके शासनको अच्छी तरह समझाए जानेपर भी नहीं श्रद्धान करता है।

वास्तवमें जब तक नित्य अनित्य, एक अनेक आदि स्वभावमई सामान्य विशेष गुण रूप आत्माका गुणपर्याय रूपसे व उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूपसे श्रद्धान नहीं होगा तथा अंतरंगमें निजात्मानन्दका स्वाद नहीं प्रगट होगा, तबतक मिथ्यादर्शनके विकारसे नहीं छूटता हुआ यह जीव कभी भी सुख शांतिके मार्गको [illegible] है। यही सार तत्व है।

सारसमुच्चयमें कहते हैं—

अनादिकालजीवेन प्राप्त दुःख पुन पुन ।
मिथ्यामोहपरीतेन कषायवशवर्तिना ॥ ४८ ॥

मिथ्यात्व परमं बीज संसारस्य दुरात्मनः ।
तस्मात्तदेव मोक्तव्य मोक्षसौख्य जिघृक्षुणा ॥५२॥

भावार्थ–मिथ्या मोहके आधीन होकर व क्रोधादि कषायोंके वशमें रहकर अनादि कालसे इस जीवने वारवार दुःख उठाए हैं। इस दुःखसे भरे हुए ससारका बड़ा बीज मिथ्यादर्शन है। इसलिये जो मोक्षके सुखको ग्रहण करना चाहता है उसे इस मिथ्यात्वका ही सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ ९३ ॥

उत्थानिका–आगे मोक्षका स्वरूप प्रकाश करते हैं—

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसतप्पा ।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो सपुण्णसामण्णो ॥ ९४ ॥

अयथाचारवियुक्तो यथार्थपदनिश्चितो प्रशान्तात्मा ।
अफले चिर न जीवति इह स सम्पूर्णश्रामण्य ॥ ९४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(अजधाचारविजुत्तो) विपरीत आचरणसे रहित, (जधत्थपदणिच्छिदो) यथार्थ पदार्थोंका निश्चय रखनेवाला तथा (पसतप्पा) शांत स्वरूप (सपुण्ण सामण्णो) पूर्ण मुनिपदका धारी (सो) ऐसा साधु (इह अफले) इस फलरहित ससारमें (चिरं ण जीवदि) बहुत काल नहीं जीता है।

विशेषार्थ–निश्चय व्यवहार रूपसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, सम्यक्तप, सम्यग्वीर्य ऐसे पाच आचारोंकी भावनामें परिणमन करते रहनेसे जो विरुद्ध आचारसे रहित हैं, सहज ही आनन्द रूप एक स्वभावधारी अपने परमात्माको आदि लेकर

पदार्थोंके ज्ञान सहित होनेसे जो यथार्थ वस्तु स्वरूपका ज्ञाता है, तथा विशेष परम शांत भावमें परिणमन करनेवाले अपने आत्मद्रव्यकी भावना सहित होनेसे जो शातात्मा है ऐसा पूर्ण साधु शुद्धात्माके अनुभवमे उत्पन्न सुखामृत रसके स्वादसे रहित होनेके कारणसे इस फल रहित ससारमें दीर्घकाल तक नहीं ठहरता है अर्थात् शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करलेता है। इस तरह मोक्ष तत्वमें लीन पुरुष ही अभेद नयसे मोक्ष स्वरूप है ऐसा जानना योग्य है।

भावार्थ–यहा मोक्ष तत्त्वका झलकाव साधुपदमें होजाता है ऐसा प्रगट किया है। जो साधु शास्त्रोक्त अठाईस मूल गुणोंको उनके अतिचारोंको दूर करता हुआ पालता है अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप वीर्य रूप पाच प्रकार आचारोंको व्यवहार नयकी सहायतासे निश्चय रूप आराधन करता है–इस आचरणमें जिसके रच मात्र भी विपरीतता नहीं होती है। तथा जो आत्मा और अनात्माके स्वरूपको भिन्न २ निश्चय किये हुए है ऐसा कि जिसके सामने ससारी प्राणी जो अजीवका समुदाय है सो जीव और अजीवके पिंड रूप न दिखकर भिन्न २ झलक रहा है। और जिसने अपनी कषायोंको इतना जला डाला है कि वीतरागताके रसमें हर समय मगनता हो रही है ऐसा पूर्ण मुनि पदका आराधनेवाला अर्थात् अपने शुद्ध आत्मीक भावमें तल्लीन होकर निश्चय रत्नत्रयमइ निज आत्मामें एकचित होता हुआ श्रमण वास्तवमें मोक्षतत्व है क्योंकि मोक्ष अवस्थामें जो ज्ञान श्रद्धान व तल्लीनता तथा स्वस्वरूपानन्दका भोग है वही इस महात्माको भी प्राप्त हो रहा है–इस कारण इस परम धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानकी अग्निसे अ

यह साधु शीघ्र ही नवीन कर्मोंका संवर करता हुआ और पूर्व बांधे हुए कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ इस दुःखमई सारे जन्मसे भरे हुए तथा स्वात्मानन्द रूपी फलसे शून्य संसारसमुद्रमें अधिक काल नहीं ठहरता है-शीघ्र ही परम शुद्ध रत्नत्रय रूपी नौकाके प्रतापसे मोक्षद्वीपमें पहुंच जाता है। संसारतत्त्व जब पराधीन है तब मोक्ष तत्त्व स्वाधीन है, संसारतत्त्व विनाश रूप अनित्य है, तब मोक्ष तत्त्व अविनाशी है, संसारतत्त्व जब आकुलतारूप दुःखमई है तब मोक्षतत्व निराकुल सुखमई है, संसारतत्व जब कर्मबंधका बीज है, तब मोक्षतत्व कर्मबंध नाशक है ऐसा जानकर भव्य जीवोंको संसार तत्वमें वैराग्य धारकर मोक्षतत्वकी ही भावना करनी योग्य है।

इसी मोक्षतत्वके आदर्शको अमृतचन्द्राचार्यने श्री समयसार कलशमें कहा है--

जयति सहजतेजः पुंजमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येकरूपस्वरूपः ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भ,
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥ २६/१० ॥

भावार्थ-यह परमनिश्चल तेजस्वी चैतन्यका चमत्कार जयवंत रहो जिसके सहज तेजके समुदायमें तीन लोकोंका स्वरूप मानों डूब रहा है व जिसमें संपूर्ण संकल्प विकल्पोंका अभाव है, तथा जो एक ही स्वरूप है और जो आत्मीक रसमें पूर्ण अविनाशी निज तत्वको प्राप्त किये हुए है।

श्री योगेन्द्रदेव अमृताशीतिमें कहते हैं--

ज्वरजननजराणां वेदना यत्र नास्ति,
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नो गतिर्वा ।

विशेषार्थ-जो साधु संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तीन दोषोंसे रहित होकर अनन्तज्ञानादि स्वभावधारी निज परमात्म पदार्थको आदि लेकर सर्व वस्तुओंके विचारमें चतुर होकर उस चतुराई प्रगट जो अतिशय सहित परम विवेकरूपी ज्योति उसके द्वारा सब प्रकार पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाले हैं तथा पांचों धीन न होकर निज परमात्मातत्वकी भावना रूप परम समाधिसे उत्पन्न जो परमानन्दमई सुखरूपी अमृत उसके स्वाद लेनेके फलसे पांचों इंद्रियोंके विषयोंमें रंच भी आसक्त नहीं हैं और जिन्होंने बाहरी क्षेत्रादि अनेक प्रकार और भीतरी मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकार परिग्रहको त्याग दिया है ऐसे महात्मा ही शुद्धोपयोगी मोक्षकी सिद्धि कर सके हैं ऐसा कहा गया है अर्थात् ऐसे परमयोगी ही अभेद नयसे मोक्षमार्ग स्वरूप जानने योग्य हैं ।

भावार्थ-मोक्षके साक्षात् साधन करनेवाले वे ही महात्मा निर्ग्रंथ तपोधन होसक्ते हैं जिन्होंने स्याद्वाद नयके द्वारा शुद्ध अशुद्ध सर्व पदार्थोंके स्वरूपको भली तरह जानकर उनमें दृढ़ निश्चय प्राप्तकर लिया है अर्थात् जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त हैं और जिन्होंने अंतरङ्ग बहिरंग चौवीस प्रकारकी परिग्रहका त्याग कर पांचों इंद्रियोंकी अभिलाषा छोड़ दी है अर्थात् उनमें रंच मात्र भी राग नहीं है, सम्यक्चारित्रके धारी हैं । वास्तवमें रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है जो इसे धारण करते हैं वे ही शिव रमणीके पात्र होसक्ते हैं ।

श्री समयसारजीमें स्वामी इसी बातको दिखाते हैं—

आयारादीणाण जीवादीदंसण च विण्णेय ।
छज्जीवाण रक्खा भणदि चरित्त तु ववहारो ॥ २६४ ॥
आदा खु मज्झणाणे आदा मे दसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ २६५ ॥

भावार्थ—व्यवहार नयसे आचाराङ्ग आदि शास्त्रोंको जानना सम्यग्ज्ञान है, जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, तथा ६ कायके प्राणियोंकी रक्षा करना सम्यग्चारित्र है ये व्यवहार रत्नत्रय है। निश्चय नयसे एक आत्मा ही मेरे ज्ञानमें है, वही आत्मा मेरे सम्यग्दर्शनमें है वही चारित्रमें है वही आत्मा त्यागमें है वही संवरमें और वही ध्यानमें है अर्थात् व्यवहार रत्नत्रयसे युक्त होकर जो निज आत्माके शुद्ध स्वभावमें लय होजाता है वही निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षमार्गका आराधन करता हुआ मोक्षमार्गका सच्चा साधनेवाला होता है।

श्री मूलाचार समयसार अधिकारमें कहा है—
भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई ।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी ॥ १०४ ॥

भावार्थ—जो साधु भावोंसे वैरागी हैं वेही सच्चे विरक्त हैं। जो बाहरी मात्र त्यागी हैं उनके मोक्षकी प्राप्ति नहीं होसक्ती। इस लिये पांचों इन्द्रियोंके विषयोंके वनमें रमन करनेमें लोलुपी मनरूपी हाथीको वशमें रखना योग्य है।

श्री मूलाचार अनगार भावनामें कहा है—
णिट्ठविदकरणचरणा कम्मं णिद्धुदुदं धुणित्ताय ।
जरमरणविप्पमुक्का उवेंति सिद्धिं धुदकिलेसा ॥ ११६ ॥

भावार्थ—जिन साधुओंने ध्यानके बलसे निश्चयचारित्रमें

उत्कृष्टता प्राप्त करती है, वे ही साधु सर्व गाढ़ बंधे हुए कर्मोंको क्षयकर सर्व क्लेशसे रहित होते हुए व जन्मजरा मरणकी उपाधिसे सदाके लिये छूटते हुए अनंत ज्ञानादिकी प्रगटतारूप सिद्धिपनेकी अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं।

श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

मानस्तंभ दृढं भक्त्वा लोभाद्रिं च विदार्य वै ।
मायावल्लीं समुत्पाट्य क्रोधशत्रुं निहत्य च ॥ १६४ ॥
यथाख्यातं हितं प्राप्य चारित्रं ध्यानतत्पर ।
कर्मणां प्रक्षयं कृत्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १६५ ॥

भावार्थ—जो ध्यानमें लीन साधु दृढ़ मानके खंभेको उखाड़ कर, लोभके पर्वतको चूर्ण चूर्णकर, मायाकी बेलोंको तोडकर तथा क्रोध शत्रुको मारकर यथाख्यात चारित्रको प्राप्त हो जाता है वही कर्मोंका क्षयकर परमपदको प्राप्त करलेता है ॥ ९६ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य फिर दिखलाते हैं कि शुद्धोपयोग स्वरूप जो मोक्षमार्ग है वही सर्व मनोरथको सिद्ध करनेवाला है—

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥९७॥
शुद्धस्य च श्रामण्यं भणितं शुद्धस्य दर्शनं ज्ञानम् ।
शुद्धस्य च निर्वाणं स एव सिद्धो नमस्तस्मै ॥ ९७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(सुद्धस्स य सामण्णं) शुद्धोपयोगीके ही साधुपना है, (सुद्धस्स दंसणं णाणं भणियं) शुद्धोपयोगीके ही दर्शन और ज्ञान कहे गए हैं (सुद्धस्स य णिव्वाणं) शुद्धोपयोगीके ही निर्वाण होता है (सोच्चिय सिद्धो) शुद्धोपयोगी ही सिद्ध भगवान हो जाता है (तस्स णमो) इसलिये उस शुद्धोपयोगीको नमस्कार हो

विशेषार्थ-जो शुद्धोपयोगका धारक साधु है उसीके ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्रकी एकतारूप तथा शत्रु मित्र आदिमें समभावकी परिणतिरूप साक्षात् मोक्षका मार्ग श्रमणपना कहा गया है। शुद्धोपयोगीके ही तीनलोकके भीतर रहनेवाले व तीन काल वर्ती सर्व पदार्थोंके भीतर प्राप्त जो अनन्त स्वभाव उनको एक समयमें विना क्रमके सामान्य तथा विशेष रूप जाननेको समर्थ अनन्तदर्शन व अनन्तज्ञान होते हैं, तथा शुद्धोपयोगीके ही बाधा रहित अनन्त सुख आदि गुणोंका आधारभूत पराधीनतासे रहित स्वाधीन निर्वाणका लाभ होता है। जो शुद्धोपयोगी है वही लौकिक माया, अंजन, रस, दिग्विजय, मंत्र, यंत्र आदि सिद्धियोंमें विलक्षण, अपने शुद्ध आत्माकी प्राप्तिरूप, टांकीमें उकेरेके समान मात्र ज्ञायक एक स्वभावरूप तथा ज्ञानावरणादि आठ विध कर्मोंसे रहित होनेके कारणसे सम्यक्त्व आदि आठगुणोंमें गर्भित अनंत गुण सहित सिद्ध भगवान हो जाता है। इसलिये उसी ही शुद्धोपयोगीको निर्दोष निज परमात्मामें ही आराध्य आराधक सम्बंध रूप भाव नमस्कार होहु। भाव यह कहा गया है कि इस मोक्षके कारणभूत शुद्धोपयोगके ही द्वारा सर्व इष्ट मनोरथ प्राप्त होते हैं। ऐसा मानकर शेष सर्व मनोरथको त्यागकर इसी शुद्धोपयोगकी ही भावना करनी योग्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने उसी शुद्धोपयोगरूप समता भावको स्मरण किया है जिसमें उन्होंने ग्रन्थके प्रारम्भके समय अपना आश्रय रखनेकी प्रतिज्ञा की थी। तथा यह भी बता दिया है कि जैसा कार्य होता है वैसा ही कारण होना चाहिये। ——

तपमें एकाग्रता करता हुआ, उसी ध्यानमई तपमें उन्नति करता हुआ उसी ध्यानमई तपमें एकताकी भावनाके प्रतापसे परमानदको प्राप्त होकर जबतक मुक्ति न पावे, देव और मनुष्योंके सुखकी तरंगोंमें विश्राम करता है वही साधु अन्तमें बाहरी शरीर प्राप्तिके कारण इंद्रिय बल आयु तथा श्वासोश्वासमई प्राणोंसे छूटकर उत्कृष्ट मुक्तिपदको प्राप्तकर लेता है।

श्री अमितगति आचार्य सामायिकपाठमें कहते हैं—

नरकगतिमशुद्धै सुन्दरै स्वर्गवास ।
शिवपदमनवद्य याति शुद्धैरकर्मा ॥
स्फुटमिह परिणामैश्चेतन पोष्यमाणै
रिति शिवपदकामैस्ते विधेया विशुद्धा ॥ ७८ ॥

भावार्थ—अशुभोपयोग परिणामोंसे यह आत्मा नरक गतिमें जाता है, शुभोपयोग परिणामोंसे स्वर्गगति पाता है तथा अत्यन्त शुद्ध शुद्धोपयोग परिणामोंसे प्रगटपने कर्म रहित होकर निर्दोष परम प्रशसनीय मोक्षपदको पाता है, ऐसा जानकर जो मोक्षपदके चाहनेवाले हैं उनको शुद्धोपयोग परिणामोंको ही करना योग्य है।

श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं —

सम्यक्त्वज्ञानसपन्नो जैनभक्तो जितेन्द्रिय ।
लोभमोहमदैस्त्यक्तो मोक्षभागी न सशय ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित है, जैन धर्मका भक्त है, जितेंद्रिय है, लोभ, मोह, मायादि कषायोंसे रहित वही अवश्य मोक्षका लाभ करता है इसमें सशय नहीं करना चाहिये।

श्री परमानद मुनि धम्मरसायणमें कहते हैं—

अणयारपरमधम्म धीरा काऊण सुद्धसम्मत्ता ।
गच्छन्ति केई सग्गे केई सिज्झन्ति धुदकम्मा ॥१८६॥

भावार्थ–मुनिपदरूपी शुद्धोपयोग ही परम धर्म है। शुद्ध सम्यग्दृष्टी धीर पुरुष इस धर्मका साधन करके कोई तो स्वर्गमें जाते तथा कोई सब कर्मका नाशकर सिद्ध हो जाते हैं ॥९६॥

उत्थानिका–आगे शिष्य जनको शास्त्रका फल दिखाते हुए इस शास्त्रको समाप्त करते हैं—

बुज्झदि सासणमेय सागारणगारचरियया जुत्तो ।
जो सो पवयणसार लहुणा कालेण पप्पोदि ॥ ९७ ॥

बुध्यते शासनमेतत् सागारानगारचर्यया युक्तः ।
य स प्रवचनसार लघुना कालेन प्राप्नोति ॥ ९७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जो) जो कोई (सागारणगार चरियया जुत्तो) श्रावक या मुनिके चारित्रसे युक्त होकर (एयसासण) इस शासन या शास्त्रको (बुज्झदि) समझता है (सो) सो भव्यजीव (लहुणा कालेण) थोडे ही कालमें (पवयणसार) इस प्रवचनके सारभूत परमात्मपदको (पप्पोदि) पालेता है।

विशेषार्थ–यह प्रवचनसार नामका शास्त्र रत्नत्रयका प्रकाशक है। तत्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उसके विषयभूत अनेक धर्मरूप परमात्मा आदि द्रव्य हैं–इन्हींका श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त है इससे साधने योग्य अपने शुद्धात्माकी रुचिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है, जाननेयोग्य परमात्मा आदि पदार्थोंका यथार्थ जानना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है, इससे साधने योग्य विकार रहित स्वसंवेदन

[illegible] निश्चय सम्यग्ज्ञान है। व्रत, समि

आदिका आचरण पालना व्यवहार या सराग चारित्र है, उसीसे ही साधने योग्य अपने शुद्धात्मासी निश्चल अनुभूतिरूप वीतराग चारित्र या निश्चय सम्यक्चारित्र है। जो कोई शिष्य। अपने भीतर "रत्नत्रय ही उपादेय है, उसीका साधन कार्यकारी है" ऐसी रुचि रखकर बाहरी रत्नत्रयका साधन श्रावकके आचरण द्वारा या बाहरी रत्नत्रयके आधारसे निश्चय रत्नत्रयका साधन मुनिपदके आचरण अर्थात् प्रमत्त गुण स्थानवर्ती आदि तपश्चर्या द्वारा करता हुआ इस प्रवचनसार ग्रन्थको समझता है वह थोड़े ही कालमें अपने परमात्मपदको प्राप्तकर लेता है।

भावार्थ-इस प्रवचनसारमें जो रत्नत्रयमई मोक्षमार्ग बताया है उसपर अपनी श्रद्धा रखकर श्रावक या मुनिपदके आचारके द्वारा जो अपने ही शुद्धात्माका अनुभव करता है, वह यदि वज्र वृषभनाराचसंहननका धारी है तो मुनिपदके द्वारा क्षायिक सम्यग्दृष्टी हो क्षपकश्रेणीपर चढ़कर शीघ्र ही चार घातिया कर्मोंको नाशकर केवलज्ञानी अरहंत होकर फिर आठ कर्म रहित सिद्धपदको प्राप्त कर लेता है और यदि कोई मुनि उस भवसे मोक्ष न पावे तो कुछ भवोंमें मुक्ति प्राप्तकर लेता है। श्रावक धर्मको आगन्म साधनेवाला स्वर्गमें जाकर तीसरे भव या और दो चार व कई भवोंमें मुनिपदके द्वारा मुक्ति पालेता है। इस ग्रन्थमें चारित्रकी मुख्यतासे कथन है। वह चारित्र सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान सहित ही सम्यग्चारित्र होता है। व्यवहारसे व्रतोंका पालना व्यवहार निमित्त है, इस निमित्तसे अत्यन्त निराकुल स्वरूपमें मग्नतारूप शुद्धोपयोग मई निश्चय चारित्रका लाभ होता है। यही वह ध्यानकी

अमृतसे परिपूर्ण होकर सर्वथा शुद्ध होता हुआ मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥९७॥

इस तरह पांच गाथाओंके द्वारा पंच रत्नमई पांचमा स्थलका व्याख्यान किया गया। इस तरह बत्तीस गाथाओंसे व पांच स्थलमें शुभोपयोग नामका चौथा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ।

* * * *

इस तरह श्री जयसेन आचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीकामें पूर्वोक्त क्रमसे " एवं पणमिय सिद्धे " इत्यादि इक्कीस गाथाओंसे उत्सर्ग चारित्रका अधिकार कहा, फिर "ण हि णिरवेक्खो चागो" इत्यादि तीस गाथाओंमें अपवाद चारित्रका अधिकार कहा-पश्चात् ' एयग्गगदो समणो ' इत्यादि चौदह गाथाओंसे श्रामण्य या मोक्षमार्ग नामका अधिकार कहा, फिर इसके पीछे "समणा सुद्धुवजुत्ता" इत्यादि बत्तीस गाथाओंमें शुभोपयोग नामका अधिकार कहा। इस तरह चार अन्तर अधिकारोंके द्वारा सत्तानवे गाथाओंमें चरणानुयोग चूलिका नाम तीसरा महा अधिकार समाप्त हुआ।

प्रश्न-यहां शिष्यने प्रश्न किया कि यद्यपि पूर्वमें बहुतवार आपने परमात्म पदार्थका व्याख्यान किया है तथापि संक्षेपसे फिर भी कहिये ?

उत्तर-तब भगवान कहते हैं—

जो केवल ज्ञानादि अनन्त गुणोंका आधारभूत है वह आत्म द्रव्य कहा जाता है। उसीकी ही परीक्षा नयोंसे और प्रमाणोंसे, की जाती है।

प्रथम ही शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा यह आत्मा उपाधि

रहित स्फटिकके समान सर्व रागद्वेषादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित है। वही आत्मा अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा उपाधि सहित स्फटिकके समान सर्व रागद्वेषादि विकल्पोंकी उपाधि सहित है, वही आत्मा शुद्धसद्भूत व्यवहार नयसे शुद्ध स्पर्श, रस, गध, वर्णोका आधारभूत पुद्गल परमाणुके समान केवलज्ञानादि शुद्ध गुणोका आधारभूत है, वही आत्मा अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नयसे अशुद्ध स्पर्श, रस, गध, वर्णका आधारभूत दो अणु तीन अणु आदि परमाणुओंके अनेक स्कधोकी तरह मतिज्ञान आदि विभाव गुणोका आधारभूत है। वही आत्मा अनुप चरित असद्भूत व्यवहारनयसे द्वणुक आदि स्कधोंके सम्बन्धरूप बधमे स्थित पुद्गल परमाणुकी तरह अथवा परमौदारिक शरीरमे वीतराग सर्वज्ञकी तरह किसी खास एक शरीरमें स्थित है। (नोट—आत्माको कार्माण शरीरमे या तैजस शरीरमें स्थित कहना भी अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे है)। तथा वही आत्मा उपचरित असद्भूत व्यवहारनयमे काठके आसन आदिपर बैठे हुए देवदत्तके समान व समवशरणमे स्थित वीतराग सर्वज्ञके समान किसी विशेष ग्राम ग्रह आदिमे स्थित है। इत्यादि परस्पर अपेक्षारूप अनेक नयोंके द्वारा जाना हुआ या व्यवहार किया हुआ यह आत्मा क्रमक्रमसे विचित्रता रहित एक किसी विशेष स्वभावमे व्यापक होनेकी अपेक्षासे एक स्वभावरूप है। वही जीव द्रव्य प्रमाणकी दृष्टिसे जाना हुआ विचित्र स्वभावरूप अनेक धर्मोंमें एक ही काल चित्रपटके समान व्यापक होनेसे अनेक स्वभाव स्वरूप है। इस तरह नय प्रमाणोंके द्वारा तत्वके विचारके समयमें जो कोई परमात्म द्रव्यको

जानता है वही निर्विकल्प समाधिके प्रस्तावमें या अवसरमें भी निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानसे भी परमात्माको जानता है अर्थात् अनुभव करता है।

फिर शिष्यने निवेदन किया कि भगवन् मैंने आत्मा नामा द्रव्यको समझ लिया अब आप उसकी प्राप्तिका उपाय कहिये ?

भगवान कहते हैं-सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वभाव जो अपना परमात्म तत्त्व है उसका भले प्रकार श्रद्धान, उसीका ज्ञान व उसीका आचरण रूप अभेद या निश्चय रत्नत्रयमई जो निर्विकल्प समाधि उससे उत्पन्न जो रागादिकी उपाधिसे रहित परमानंदमई एक स्वरूप सुखामृत रसका स्वाद उसको नहीं अनुभव करता हुआ जैसे पूर्णमासीके दिवस समुद्र अपने जलकी तरंगोंसे अत्यन्त क्षोभित होता है, इस तरह रागद्वेष मोहकी कल्लोलोंसे यह जीव जबतक अपने निश्चल स्वभावमें न ठहरकर क्षोभित या आकुलित होता रहता है तबतक अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको नहीं प्राप्त करता है। वही जीव जैसे वीतराग सर्वज्ञका कथित उपदेश पाना दुर्लभ है, इस तरह एकेंद्रिय, द्वेंद्रिय, तेंद्रिय, चोंद्रिय, पचेंद्रिय सैनी पर्याप्त, मनुष्य, उत्तम देश, उत्तम कुल, उत्तमरूप इन्द्रियोंकी विशुद्धता, बाधारहित आयु, श्रेष्ठ बुद्धि, सच्चे धर्मका सुनना, ग्रहण करना, धारण करना, उसका श्रद्धान करना, संयमका पालना, विषयोंके सुखसे हटना, क्रोधादि कषायोंसे बचना आदि परम्परा दुर्लभ सामग्रीको भी किसी अपेक्षासे काकतालीन्यायसे प्राप्त करके सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञान केवल दर्शन स्वभाव अपने परमात्मतत्त्वके सम्यग् श्रद्धान, ज्ञान व आचरणरूप अभेद रत्नत्रयमई निर्विकल्प

समाधिमे उत्पन्न जो रागादिकी उपाधिसे रहित परमानन्दमई सुधामृत रस उसके स्वादके अनुभवके लाभ होते हुए जैसे अमावसके दिन समुद्र जलकी तरंगोंसे रहित निश्चल क्षोभरहित होता है इस तरह राग, द्वेष, मोहकी कल्लोलोंके क्षोभसे रहित होकर जैसा जैसा अपने शुद्ध आतमस्वरूपमें स्थिर होता जाता है तैसा तैसा उसी ही अपने शुद्धात्मस्वरूपको प्राप्त करता जाता है।

भावार्थ-भव्य जीवको उचित है कि प्रथम आत्माको भले प्रकार नय प्रमाणोंसे निश्चय कर ले फिर व्यवहार रत्नत्रयके आलम्बनसे निश्चयरत्नत्रयमई आत्मस्वभावका अनुभव करे। बस यही स्वात्मानुभव आत्माके बन्धनोंको काटता चला जायगा और यह आत्मा शुद्धताको प्राप्त करते करते एक समय पूर्ण शुद्ध परमात्मा हो जायगा।

* * *

इस तरह श्री जयसेन आचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिमें पूर्वमें कहे प्रमाणसे "एस सुरासुर" इत्यादि एकसोएक गाथाओं तक सम्यग्ज्ञानका अधिकार कहा गया। फिर 'तम्हा तस्स णमाइ' इत्यादि एकसौ तेरह गाथाओं तक ज्ञेय अधिकार या सम्यग्दर्शन नामका अधिकार कहा गया। फिर 'तव सिद्धे णयसिद्धे' इत्यादि सत्तानवे गाथा तक चारित्रका अधिकार कहा गया। इस तरह तीन महा अधिकारोंके द्वारा तीनसौ ग्यारह गाथाओंसे यह प्रवचनसार प्राभृत पूर्ण किया गया।

इस तरह श्री समयसारकी तात्पर्यवृत्ति टीका समाप्त हुई।

उनके शिष्य अनेक गुणोंके धारी आचार्य श्री सोमसेन हुए। उनका शिष्य यह जयसेन तपस्वी हुआ। सदा धर्ममें रत प्रसिद्ध माल्‌ साधु नामके हुए हैं। उनका पुत्र साधु महीपति हुआ है, उनसे यह चारुभट नामका पुत्र उपजा है, जो सर्व ज्ञान प्राप्तकर सदा आचार्योंके चरणोंकी आराधना पूर्वक सेवा करता है, उस चारुभट अर्थात्‌ जयसेनाचार्यने जो अपने पिताकी भक्तिके विलोप करनेसे भयभीत था इस प्राभृत नाम ग्रन्थकी टीका की है। श्रीमान त्रिभुवनचन्द्र गुरुको नमस्कार करता हूं, जो आत्माके भावरूपी जलको बढानेके लिये चंद्रमाके तुल्य हैं और कामदेव नामके प्रबल महापर्वतके सैकड़ों टुकडे करनेवाले हैं। मैं श्री त्रिभुवनचंद्रको नमस्कार करता हूं। जो जगतके सर्व संसारी जीवोंके निष्कारण बन्धु हैं और गुण रूपी रत्नोंके समुद्र हैं। फिर मैं महा संयमके पालनेमें श्रेष्ठ चंद्रमातुल्य श्री त्रिभुवनचन्द्रको नमस्कार करता हूं जिसके उदयसे जगतके प्राणियोंके अन्तरंगका अन्धकार समूह नष्ट होजाता है।

॥ इति प्रशस्ति ॥

इस चारित्रतत्त्वदीपिकाका संक्षेप भाव।

इस तृतीय भागमें महाराज कुन्दकुन्दाचार्यने पहले भागमें पांचमी गाथाके अन्दर "उवसंपयामि सम्मं, जत्तो णिव्वाण संपत्ती" अर्थात्–मैं साम्यभावको प्राप्त होता हूं, जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है, ऐसी प्रतिज्ञा करी थी। जिससे यह भी दिखलाया था कि निर्वाणका उपाय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान पूर्वक रागद्वेषादिका त्यागकर वीतराग भावरूप समताकी शरणमें जाना है। अब इस अधिकारमें पहले दो अधिकारोंमें सम्यग्ज्ञानकी तथा सम्यक्त और ज्ञानके विषयभूत छः द्रव्य रूप ज्ञेय पदार्थोंकी व्याख्या भले प्रकार करके उस चारित्रका वर्णन किया है जिससे समताभावका लाभ हो, क्योंकि मुख्यतासे शुद्धोपयोगरूप अभेद रत्नत्रयकी प्राप्ति ही चारित्र है, जिसका भले प्रकार होना मुनिपदमें ही संभव है।

इसलिये प्रथम ही आचार्यने यह दिखलाया है कि गृहस्थको साधु होनेके लिये अपने सर्व कुटुम्बसे क्षमा कराय निराकुल हो किसी तत्त्वज्ञानी आचार्यके पास जाकर दीक्षा लेनेकी प्रार्थना करनी चाहिये। उनकी आज्ञा पाकर सब वस्त्राभूषणादि परिग्रहका त्याग कर केशोंको लोंचकर सर्व ममतासे रहित होकर अपना उपयोग शुद्धकर अठाइस मूलगुणोंको पालना चाहिये तथा सामायिक चारित्रका अभ्यास करना चाहिये। यदि चारित्रमें कोई अतीचार लग जावे तो उसकी आलोचना करते हुए गुरुसे प्रायश्चित्त लेकर अपनी शुद्धि करनी चाहिये। तथा विहारादि क्रियाओंमें यत्नाचार पूर्वक

वर्तना चाहिये, जिससे प्राणियोंकी हिंसा न हो। जो यत्नसे व्यवहार करनेपर कदाचित् कोई प्राणीका घात हो भी जावे तो भी अप्रमादीको हिंसाका दोष नहीं होता है, परतु जो यत्नवान नहीं है और प्रमादी है तो वह निरतर हिंसामई भावसे न बचनेकी अपेक्षा हिंसाका भागी होना है। रागादि भाव ही हिंसा है। इसीसे ही कर्मबंध होता है। जो साधु किंचित् भी ममता परद्रव्योंमें रखता है तथा शरीरकी ममता करके थोडा भी वस्त्रादि धारण करता है तो वह अहिंसा महाव्रतका पालनेवाला नहीं होता है। इसलिये साधुको ऐसा व्यवहार पालना चाहिये जिससे अपने चारित्रका छेद न हो। साधुको चारित्रमें उपकारी पीछी, कमडलु अथवा शास्त्रके सिवाय और परिग्रहको नहीं रखना चाहिये।

फिर दिखलाया है कि मुनिमार्ग तो शुद्धोपयोग रूप है। यही उत्सर्गमार्ग है। आहार विहार धर्मोपदेश करना आदि सर्व व्यवहार चारित्र है यह अपवाद मार्ग है। अपवाद मार्गमें भी नग्न रूपता अत्यन्त आवश्यक साधन है। विना इसके अहिंसा महाव्रत आदिका व धारना योग्य साधन नहीं हो सक्ता है क्योंकि स्त्रिया प्रमाद व लज्जाकी विशेषता होनेसे नग्नपना नहीं धार सक्ती है इससे उनके मुनिपद नहीं होसक्ता है और इसीलिये वे उस स्त्री पर्यायसे मोक्षगामिनी नहीं हो सक्ती हैं।

मुनि महाराज यद्यपि शरीररूपी परिग्रहका त्याग नहीं कर सक्ते तथापि उसकी ममता त्याग देते हैं। उस शरीरको मात्र संयमके लिये योग्य आहार विहार कराकर व शास्त्रोक्त आचरण

कराकर पालतेहुए उससे आत्म ध्यानका कार्य लेते हैं। साधुको अपने चारित्रकी रक्षाके लिये जिन आगमका सेवन करते हुए आत्मा और परके स्वभावका अच्छी तरह मरमी होजाना चाहिये, कारण जिसको आत्माका यथार्थज्ञान न होगा वह किस तरह आत्मध्यान करके एकाग्रता प्राप्तकर अपने कर्मोंका क्षय कर सकेगा ?

फिर यह बतलाया है कि साधुको एक ही समयमें तत्वार्थका श्रद्धान, आगमका ज्ञान तथा संयम भाव धारण करना चाहिये। आत्मज्ञान सहित तप ही कर्मोंकी जितनी निर्जरा कर सक्ता है उतनी निर्जरा करोड़ों भवोंमें भी अज्ञानी नहीं कर सक्ता है, इस लिये साधुको यथार्थ ज्ञानी होकर पूर्ण वैरागी होना चाहिये, यहां तक कि उसकी परमें कुछ भी ममता न होवे। वास्तवमें साधु वही है जो शत्रु मित्र, सुख दुःख, निन्दा, प्रशंसा, कंचन तृण, जीवन मरणमें समान भावका धारी हो। जो साधु रागद्वेष मोह छोड़कर वीतरागी होते हैं उनहीके कर्मोंका क्षय होता है।

जहां रत्नत्रयकी एकतारूप शुद्धोपयोग है वहीं साधुका श्रेष्ठ व उत्सर्ग मार्ग है। उनहीके आश्रव नहीं होता है, परन्तु शुद्धोपयोगमें रमणता करनेके लिये जो साधु हर समय असमर्थ होते हैं वे शुभोपयोगमें वर्तन करते हैं। यद्यपि धर्मानुरागमें कर्मोंका आश्रव होता है। तथापि इसके आलम्बनसे वे अशुभोपयोगसे बचते हुए शुद्धोपयोगमें जानेकी उत्कंठा रखते हैं।

शुभोपयोगी साधु पांच परमेष्ठीकी भक्ति, वंदना, स्तुति करते हैं। साधुओंमें परम प्रेम रखते हैं। साधु व श्रावकादिको धर्म

मार्गका उपदेश करते हैं। श्रावकोंको पूजा पाठादि करनेका उपदेश करते हैं शिष्योंको साधु पद दे उनके चारित्रकी रक्षा करते हैं, दुखी, थके, रोगी, बाल, वृद्ध साधुकी वैय्यावृत्य या सेवा इस तरह करते हैं जिससे अपने साधुके मूलगुणोंमें कोई दोष नहीं आवे। उनके शरीरकी सेवा अपने शरीरसे व अपने वचनोंसे करते हैं तथा दूसरे साधुओंकी सेवा करनेके लिये श्रावकोंको भी उपदेश करते हैं। साधु भोजन व औषधि स्वयं बनाकर नहीं देसक्ते हैं, न लाकर देसक्ते हैं-गृहस्थ योग्य कोई आरम्भ करके साधुजन अन्य साधुओंकी सेवा नहीं कर सक्ते हैं।

श्रावकोंको भी साधुकी वैयावृत्य शास्त्रोक्त विधिसे करनी योग्य है। भक्तिसे आहारादिका दान करना योग्य है। जो साधु शुद्धोपयोगी तथा शुभोपयोगी हैं वे ही दानके पात्र हैं।

फिर कहा है कि साधुओंको उन साधुओंका आदरसत्कार न करना चाहिये जो साधुमार्गके चारित्रमें भ्रष्ट या आलसी हैं, न उनकी संगति करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे अपने चारित्रका भी नाश हो जाता है। तथा जो साधु गुणवान साधुओंका विनय नहीं करता है वह भी गुणहीन हो जाता है। साधुओंको ऐसे लौकिक जनोंमें संसर्ग न करना चाहिये जिनकी संगतिसे अपने संयममें शिथिलता हो जावे। साधुको सदा ही अपनेसे जो गुणोंमें अधिक हों व बराबर हों उनकी ही संगति करनी चाहिये। इस तरह इस अधिकारमें साधुके उत्सर्ग और अपवाद दो मार्ग बताए हैं।

उत्सर्ग मार्ग है । जहां प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, वन्दना, स्तुति, आहार विहार, धर्मोपदेश यावत्य आदि है, वह शुभोपयोगरूप अपवाद मार्ग है । साधुको जबतक पूर्ण साधुपना अर्थात् पूर्ण कषाय रहितपना प्राप्त न होजावे तबतक दोनो मार्गोकी अपेक्षा रखते हुए वर्तना चाहिये । जब उत्सर्ग मार्गमें न ठहर सके तब अपवाद मार्गमें आ जावे और अपवाद मार्गमें चलते हुए उत्सर्गपर जानेकी उत्कंठा रक्खे । यदि कोई उत्सर्ग मार्ग पर चलनेका हठ करे और उसमें ठहर न सके तो आर्तध्यानसे भ्रष्ट हो जायगा तथा जो अपवाद मार्ग चलता हुआ उसीमें मग्न हो जावे, उत्सर्ग मार्गकी भावना न करे तो वह कभी शुद्धोपयोग रूप साक्षात् भाव मुनिपदको न पाकर अपना आत्महित नहीं कर सकेगा । इससे हठ त्यागकर जिसतरह मोक्षपद रूपी साध्यकी सिद्धि हो सके उस तरह वर्तना योग्य है ।

अन्तमें स्वामीने बताया है कि आत्मा और अनात्माके स्वरूपका निश्चय न करके मिथ्या श्रद्धान ही संसार तत्त्व है । इसीसे संसारमें भ्रमणकारी घोर कर्मोका बंध होता रहता है और यह जीव अनंत काल तक चार गति रूप संसारमें भ्रमण किया करता है । जो स्याद्वाद नयसे आत्माके भिन्न २ धर्मोको नहीं समझे तथा अतीन्द्रिय आनन्दको न पहचाने तो अनेक बार साधुके अठाईस मूल गुण पालने पर भी व घोर तपस्या करते रहने पर भी सिद्धि नहीं हो सक्ती है ।

फिर मोक्ष तत्त्वको बताया है कि जो साधु आत्मा और अनात्माका यथार्थ स्वरूप जानकर निज परमात्म स्वभावका रोचक

होकर निश्चय व्यवहार रत्नत्रयका साधन करता हुआ, निर्विकल्प समाधिरूप परम उत्सर्ग साधु मार्गमें आरूढ़ होकर पारपूर्ण श्रमण होजाता है। वह निश्चय रत्नत्रयमई स्वसंवेदनसे उत्पन्न परमानन्दको भोगता हुआ शीघ्र तृप्त होजाता है, अर्थात् वह शीघ्र ही निर्वाणका लाभ कर लेता है। फिर यह समझाया है कि मुक्तिके तत्वका उपाय भले प्रकार पदार्थोंका श्रद्धान व ज्ञान प्राप्त करके बाहरी व भीतरी परिग्रहको त्यागकर जितेंद्रिय होकर यथार्थ साधु पदके चारित्रका अनुष्ठान करना है।

पश्चात् यह कहा है कि जो शुद्धोपयोगमें आरूढ़ होजाता है वही क्षपक श्रेणी चढ़कर मोहका नाशकर फिर अन्य घातिया कर्मोंका क्षयकर केवलज्ञानी अर्हत् परमात्मा होजाता है, पश्चात् सर्व कर्मोंसे रहित हो परम सिद्ध अवस्थाका लाभ कर लेता है। यहांपर आचार्यने पुनः पुनः उस परम समतामई शुद्धोपयोगको नमस्कार किया है जिसके प्रसादसे आत्मा स्वभावमें तन्मय हो परमानन्दका अनुभव करता हुआ अनन्तकालके लिये संसार भ्रमणसे छूटकर अविनाशी पदमें शोभायमान होजाता है।

अंतमें यह आशीर्वाद दी है कि जो कोई इस प्रवचनसारको पढ़कर अपने परमात्म पदार्थका निर्णय करके, श्रावककी ग्यारह प्रतिमा रूप चर्याको पालता है वह स्वर्ग लाभकर परम्परा निर्वाणका भागी होता है तथा जो साधुके चारित्रको पालता है वह उसी भवसे या अन्य किसी भवसे मोक्ष हो जाता है।

वास्तवमें यह प्रवचनसार परमागम ज्ञानका समुद्र है जो

इसमें अवगाहन करेंगे वे ही परम सुखी होंगे। इस शास्त्रमें तत्त्वका सार खूब सूक्ष्म दृष्टिसे बता दिया है।

श्री जयसेनाचार्यकी सुगम टीकाके अनुसार हमने अत्यन्त तुच्छ बुद्धिके होते हुए जो भाषामें लिखनेका सकल्प किया था, सो आज मिती आसौज सुदी ५ शुक्रवार वि० स० १९८१ व वीर निर्वाण स० २४५० ता० ३ अक्टूबर १९२४ के अत्यत प्रात काल सफल हो गया, हम इसलिये श्री अरहतादि पाच परमेष्ठियोंको पुन पुन नमन करके यह भावना करते हैं कि इस ग्रथराजकी ज्ञानतत्त्वदीपिका, ज्ञेयतत्त्वदीपिका, चारित्रतत्त्व दीपिका नामकी तीनो दीपिकाओंसे हमारे व और पाठक व श्रोताओंके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश फैले, जिससे मिथ्याश्रद्धान मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्रका अधकार नाश हो और अभेद रत्न त्रयमई स्वात्मज्योतिका प्रकाश हो।

शुभ भूयात्! शुभ भूयात्!! शुभ भूयात्!!!

भाषाकारकी प्रशस्ति

कुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृत प्रवचनसार
श्री जयसेन मुनीशकी संस्कृत वृत्ति उदार ॥ १ ॥
ताकी हिन्दी भाष्य, कछु—देख न देशमझार
भाष्य करण उद्यम किया स्वपरकाज चित धार ॥ २ ॥
विक्रम संवत एक नौ, आठ एक शुक्रवार।
आश्विन सुद पंचम परम, कर समाप्त सुखकार ॥ ३९ ॥
अवध लक्ष्मणापुर बसे, भारतमें गुलजार।
अग्रवंश गोयल कुलहिं, मंगलसैन उदार ॥ ४ ॥
ता सुत मक्खनलालजी गृहपति धनकणधार।
नारायणदेई भई, शीलवती त्रियसार ॥ ५ ॥
पुत्र चार ताके भए निज निज कर्म सम्हार।
ज्येष्ठ अभी निज थानमें सततलाल गृहकार ॥ ६ ॥
तृतिय पुत्र मैं तुच्छ मति "सीतल" दास जिनेन्द्र।
श्रावक व्रत निज शक्ति सम, पालत सुखका केन्द्र ॥ ७ ॥
इस वर्षाके कालमें, रहा इटावा आय।
समय सफलके हेतु यह टीका लिखी बनाय ॥ ८ ॥
है प्राचीन नगर महा, पुरी इष्टिका नाम।
पथ इष्टिका कहत कोउ, लखकर पथ मुकाम ॥ ९ ॥
जमुना नदी सुहावनी, तट एक दुर्ग महान।
नृप सुमेरपालहिं कियो, कहत लोक गुणवान ॥ १० ॥
ध्वस भ्रष्ट प्राचीन अति, उच्च विशाल सुहाय।
महिमा या ... नगरकी, कहत बनाय बनाय ॥ ११

नाड़ीके अति निकट ही, मंदिर एक महान् ।
उच्च कहत मगादेवजी, टिकसीके यह जान ॥ १२ ॥
भीत तासके मध्यमें, आलेमें जिनदेव ।
प्रतिमा खचित शुभ लसैं, पार्श्वनाथ भी देव ॥ १३ ॥
याते यह अनुमान सच, है उतग प्रासाद ।
श्री जिनवरका थान यह, हे शिवकारि आबाद ॥ १४ ॥
जमुना तट मारग निकट, नसिया श्री मुनिराज ।
भूल गए जैनी सबै, पूजत जिन मनि त्याज ॥ १५ ॥
कहत नसैनी दादि हैं, पुत्र पौत्र करतार ।
अग्रवाल जैनी सभी, पूजा करत सम्हार ॥ १६ ॥
चरण पादुका लेख सह, गुमटी एक मझार ।
शोभ रहे मुनिनाथके, सागर विनय विचार ॥ १७ ॥
मूलसघ झलकत महा, हेमराज जिन भक्त ।
ब्रह्म हर्ष जसराज भी, प्रणमत गुण अनुरक्त ॥ १८ ॥
एकसहस नव्वे लिखा, सवत विक्रम जान ।
फागुण शुक्ला अष्टमी, बुधवासर अघहान ॥ १९ ॥
है समाधि जिन साधुकी, सशयको नहिं थान ।
पूजन भजन सुध्यानको, करहु यहा पर आन ॥ २० ॥
दिक्-अम्बर जैनी बसे, सब गृहस्थ सुख लीन ।
सात शतक समुदाय सब, निज कारज लवलीन ॥ २१ ॥
अग्रवालके सघमें, पुत्तूलाल रसाल ।
गुलकन्दी भगवानके, दास सुलक्ष्मणलाल ॥ २२ ॥
विद्या रुचि गोपालजी, मदन आदि रस पीन ।
गोलालार समाजमें, मञ कल्याण अदीन ॥ २३ ॥

अनउदध्या परमाद हैं, वद शिपरचद जान।
चद्रमन भी वैद्य हैं, कुन्नीलाल सुजान ॥ २४ ॥
गोल्मिघाडेमें लसे, नदर मोहनलाल।
पानीक्षिन अर लक्षपति, वैद्य सु छोटेलाल ॥ २५ ॥
खर–जौआकी जातिमें, रायेलाल हकीम।
वैद्य रूपचद्र पालश्री, मेवाराम मुनीम ॥ २६ ॥
पडित पुत्तूलालके, पुत्र सुलाल वसत।
जाति लमेचूमें वसे, तोताराम महत ॥ २७ ॥
सकटमलको आदि दे, धर्मीजन समुदाय।
सेवत निज निज धर्मको, मन वच तन उमगाय ॥ २८ ॥
सप्त सुजिन मदिर लसे, दृढ़ चैत्यालय एक।
मुख्य पसारी टोलमें, कर्णपुरा मधि एक ॥ २९ ॥
ठाडे शेष सरायमें, कटरा नूतन नग्र।
गाडीपुरा सुहावना, नूतन अनुपम अग्र ॥ ३० ॥
पडित मुन्नालाल कृत, बहु धन सफल कराय।
धर्मशाल सुखप्रद रची, ठहरो तह मैं आय ॥ ३१ ॥
साधर्मीनिके सगमें, काल गमाय स्वहेत।
लिखो दीपिका चरण यह, स्वपर हेत जगहेत ॥ ३२ ॥
पढो पढावो भक्त जन, ज्ञान ध्यान चित लाय।
आतम अनुभव चित जगे, सशय सब मिट जाय ॥ ३३ ॥
नर भव दुर्लभ जानके, धर्म करहु सुख होय।
सुखसागर वर्धन करो, तत्त्वसार अवलोय ॥ ३४ ॥

इटावा (चातुर्मासमें) द ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद
ता० ३–१०–१

पूजाभक्ति उसी तरह गृहकार्योंके द्वारा एकत्र किये हुए पाप कर्मोंको धो देती है जिस तरह जल रुधिरके मलको धो देता है ।

साधुओंको नमस्कार करनेसे उच्च गोत्र, दान करनेसे भोग, उपासना करनेसे प्रतिष्ठा, भक्ति करनेसे सुन्दर रूप तथा स्तवन करनेसे कीर्तिका लाभ होता है ।

सुभाषित रत्नसन्दोहमें स्वामी अमितिगति साधुओंको दानोपकारके लिये कहते हैं—

योजीवाना जनकसदृश सत्यवाग्दत्तभोजी ।
सप्रेमस्त्रीनयनविशिखाभिन्नचित्त स्थिरात्मा ॥
द्वेधा ग्रन्थादुपरममना सर्वथा निर्जिताक्षो ।
दातु पात्र व्रतपतिमम वर्यमाहुर्जिनेन्द्रा ॥ ४८५ ॥

भावार्थ—जो सर्व प्राणियोंकी रक्षामें पिताके समान है, सत्य वादी है, जो भिक्षामें दिया जाय उसीको भोगनेवाला है, प्रेमसहित स्त्रीके नयनके कटाक्षोंसे जिसका मन भिदता नहीं है, जो दृढ भावका धारी है, अतरग परिग्रहसे ममतारहित है तथा जो सर्वथा इन्द्रियोंको जीतनेवाला है ऐसे व्रतोंके स्वामी मुनि महाराजको दान देना जिनेन्द्रोंने उत्तम पात्रदान कहा है ।

गृहस्थोंका मुख्य धर्म दान और परोपकार है ।

इस तरह शुभोपयोगी साधुओंकी शुभोपयोग सम्बन्धी क्रियाके कथनकी मुख्यतासे आठ गाथाओंके द्वारा दूसरा स्थल पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

इसके आगे आठ गाथाओं तक पात्र अपात्रकी परीक्षाकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं—

उत्थानिका-प्रथम ही यह दिखलाते हैं कि पात्रकी विशेषतासे शुभोपयोगीको फलकी विशेषता होती है-

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणि हि बीयाणिव सस्सकालम्मि॥ ७६ ॥
राग प्रशस्तभूतो वस्तुविशेषेण फलति विपरीत।
नानाभूमिगतानि हि बीजानीव सस्यकाले ॥ ७६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पसत्थभूदो रागो) धर्मानुराग रूप दान पूजादिका प्रेम (वत्थुविसेसेण) पात्रकी विशेषतासे (विवरीदं) भिन्न भिन्न रूप (सस्सकालम्मि) धान्यकी उत्पत्तिके कालमें (णाणाभूमिगदाणि) नाना प्रकारकी पृथ्वियोंमें प्राप्त (बीयाणिव हि) बीजोंके समान निश्चयसे (फलदि) फलता है॥

विशेषार्थ-जैसे ऋतुकालमें तरह तरहकी भूमियोंमें बोए हुए बीज जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भूमिके निमित्तसे वे ही बीज भिन्न२ प्रकारके फलोंको पैदा करते हैं, तैसे ही यह बीजरूप शुभोपयोग भूमिके समान जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट पात्रोंके भेदसे भिन्न२ फलको देता है। इस कथनसे यह भी सिद्ध हुआ कि यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक शुभोपयोग होता है तो मुख्यतासे पुण्यबन्ध होता है परन्तु परम्परा यह निर्वाणका कारण है। यदि सम्यग्दर्शन रहित होता है तो मात्र पुण्यबन्धको ही करता है।

भावार्थ-इस गाथामें शुभोपयोगका फल एकरूप नहीं होता है ऐसा दिखलाया है। जैसे गेहूंका बीज बढ़िया जमीनमें बोया जावे तो [illegible] पैदा होता है, मध्यम भूमिमें बोया जावे तो मध्यम होता है और जो भूमि जघन्य हो तो

जातिका पेड़ फलता है। इस ही तरह पात्रके भेदसे शुभोपयोग करनेवालेका रागभाव भी अनेक भेदरूप होजाता है जिससे अनेक प्रकारका पुण्यबंध होता है तब उस पुण्यके उदयसे फल भी भिन्न २ प्रकारका होता है।

जैन शास्त्रोंमें दान योग्य पात्र दो प्रकारके बताए हैं एक सुपात्र और दूसरा कुपात्र। जिनके सम्यग्दर्शन होता है वे सुपात्र हैं। जिनके निश्चय सम्यक्त नहीं है, किन्तु व्यवहार सम्यक्त है तथा यथायोग्य शास्त्रोक्त आचरण है वे कुपात्र हैं। सुपात्रोंके तीन भेद हैं उत्तम, मध्यम जघन्य। उत्तम पात्र निर्ग्रंथ साधु हैं, मध्यम व्रती श्रावक हैं, जघन्य व्रत रहित सम्यग्दृष्टी हैं। ये ही तीनों यदि निश्चय सम्यक्त शून्य हों तो कुपात्र कहलाते हैं। दातार भी दो प्रकारके होते हैं एक सम्यग्दृष्टी दूसरे मिथ्यादृष्टी। जिनको निश्चय सम्यक्त प्राप्त है ऐसे दातार यदि उत्तम, मध्यम या जघन्य सुपात्रको दान देते हैं व मनमें धर्मानुराग करते हैं तो परम्पराय मोक्षमें बाधक न हो ऐसे अतिशयकारी पुण्यकर्मको बांध लेते हैं। वे ही सम्यक्ती दातार यदि इन तीन प्रकार कुपात्रोंको दान करते हैं तो बाहरी निमित्तके बदलनेसे उनके भावोंमें भी वैसी धर्मानुरागता नहीं होती है, इससे सुपात्र दानकी अपेक्षा कम पुण्यकर्म बांधते हैं। यद्यपि सुपात्र कुपात्रके बाहरी आचरणमें कोई अंतर नहीं है तथापि जिनके भीतर आत्मानंदकी ज्योति जल रही है ऐसे सुपात्रोंके निमित्तसे उनके कायमें वैसा ही दिखाव होता है जिसका दर्शन दातारके भावोंमें विशेषता करदेता है, वह विशेषता आत्मज्ञान रहित कुपात्रोंके शरीरके दर्शनसे नहीं होती है।

यदि दातारस्वय सम्यक्तरहित हो, परन्तु व्यवहारमे श्रद्धावान हो तो वह उत्तम सुपात्र दानमे उत्तम भोगभूमि, मध्यम सुपात्र दानमे मध्यम भोगभूमि तथा जघन्य सुपात्रदानमे जघन्य भोगभूमि जाने योग्य पुण्य बाध लेता है, यह सामान्य कथन है। और यदि ऐसा दातार कुपात्रोको दान करे तो कुभोगभूमि" जानेलायक पुण्य बाध लेता है। परिणामोकी विचित्रतामे ही फलमे विचित्रता होती है। यहा अभिप्राय यह है कि मुनि हो वा गृहस्थ हो उस हरएकको यह योग्य है कि वह शुद्धोपयोगकी भावना सहित व शुद्धोपयोगकी रुचि सहित उदासीनभावसे मात्र शुद्धोपयोग धर्मके प्रेमसे ही पात्रोंकी सेवा करे—कुछ अपनी बडाई पूजा लाभादिकी वाछा नहीं करे, तब इससे यथायोग्य ऐसा पुण्यबंध होगा जो मोक्ष-मार्गमे बाधक न होगा।

पात्र तीन प्रकार हैं, ऐसा पुर०में अमृतचद्रजी कहते हैं—

पात्र त्रिभेदयुक्त सयोगो मोक्षकारणगुणानाम् ।
अविरतसम्यग्दृष्टिर्विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१॥

भावार्थ—मोक्षमार्गके गुणोकी जिनमे प्रगटता है ऐसे पात्र तीन प्रकार हैं जघन्य व्रत रहित सम्यग्दृष्टी, मध्यम देशव्रती, उत्तम सर्व व्रती।

दानके फलमें श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरड श्रा०मे कहते हैं—

क्षितिगतमिव वटबीज पात्रगत दानमल्पमपि काले ।
फलतिच्छायाविभव बहुफलमिष्ट शरीरभृताम् ॥ ११६ ॥

भावार्थ—जैसे वटतरुका बीज पृथ्वीमे प्राप्त होनेपर खूब छायादार फलता है, वैसे समयके ऊपर थोडा भी दान पात्रको दिया हुआ ससारी प्राणियोको बहुत मनोज्ञ फलको देता है।

प० मेधावीकृत धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें सुपात्र, कुपात्र व अपात्रके सम्बन्धमें लिखा है —

साधु स्यादुत्तमं पात्रं मध्यमं देशसंयमी ।
सम्यग्दर्शनसंशुद्धो व्रतहीनो जघन्यकम् ॥ १११ ॥
उत्तमादिसुपात्राणां दानात् भोगभुवस्त्रिधा ।
लभ्यन्ते गृहिणा मिथ्यादृशा सम्यग्दृशाऽव्ययं ॥ ११२ ॥
अणुव्रतादिसम्पन्नं कुपात्रं दर्शनोज्झितम् ।
तद्दानेनाश्नुते दाता कुभोगभूभवं सुखम् ॥ ११७ ॥
अपात्रमाहुराचार्या सम्यक्त्वव्रतवर्जितम् ।
तद्दानं निष्फलं प्रोक्तं मूषरक्षेत्रबीजवत् ॥ ११८ ॥

भावार्थ—उत्तम पात्र साधु हैं, मध्यम देशव्रती श्रावक हैं, व्रत रहित सम्यग्दृष्टी जघन्य पात्र हैं। इन उत्तम मध्यम जघन्य सुपात्रोंको दान देनेसे जो गृहस्थी मिथ्यादृष्टी हैं वे क्रमसे उत्तम, मध्यम जघन्य भोगभूमिको पाते हैं और यदि दातार सम्यग्दृष्टी हो तो परम्पराय मोक्ष पाते हैं। जो अणुव्रत व महाव्रत आदि सहित हों, परंतु सम्यग्दर्शन रहित हों वे कुपात्र हैं। उनको दान देनेसे कुभोग भूमिका सुख प्राप्त होता है। जो श्रद्धा व व्रत दोनोंसे शून्य हैं उनको आचार्योंने अपात्र कहा है, उनको भक्तिसे दान देना वसा ही निष्फल है जैसे ऊसर क्षेत्रमें बीज बोना ॥ ७६ ॥

उत्थानिका—आगे इसीको दृढतापूर्वक कहते हैं कि कारणकी विपरीततासे फल भी उलटा होता है—

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥ ७७ ॥
छद्मस्थविहितवस्तुषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः ।
न लभते अपुनर्भावं भावं सातात्मकं लभते ॥ ७७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(छदुमत्थविहिदवत्थुसु) अल्प ज्ञानियोंके द्वारा कल्पित देव गुरु शास्त्र धर्मादि पदार्थोंमें (वदणियमज्झयणझाणदाणरदो) व्रत, नियम, पठनपाठन, ध्यान तथा दानमें रागी पुरुष (अपुणब्भाव) अपुनर्भव अर्थात् मोक्षको (ण लहदि) नहीं प्राप्त कर सक्ता है, किन्तु (सादप्पग भाव) सातामई अवस्थाको अर्थात् सातावेदनीके उदयमें देव या मनुष्यपर्यायको (लहदि) प्राप्त कर सक्ता है।

विशेषार्थ-जो कोई निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गको नहीं जानते हैं केवल पुण्यकर्मको ही मुक्तिका कारण कहते हैं उनको यहा छद्मस्थ या अल्पज्ञानी कहना चाहिये न कि गणधरदेव आदि ऋषिगण। इन अल्पज्ञानियों अर्थात् मिथ्याज्ञानियोंके द्वारा-जो शुद्धात्माके यथार्थ उपदेशको नहीं देसक्ते ऐसे-जो मनोक्त देव, गुरु, शास्त्र, धर्म क्रियाकांड आदि स्थापित किये जाते हैं उनको छद्मस्थ विहितवस्तु कहते हैं। ऐसे अयथार्थ कल्पित पात्रोंके सम्बन्धमें जो व्रत, नियम, पठनपाठन, दान आदि शुभ कार्य जो पुरुष करता है वह कार्य यद्यपि शुद्धात्माके अनुकूल नहीं होता है और इसी लिये मोक्षका कारण नहीं होता है तथापि उससे वह देव या मनुष्यपना पासक्ता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने निष्पक्षभावसे यह व्याख्यान किया है कि जैसा कारण या निमित्त होता है वैसा उसका फल होता है। निश्चयधर्म तो स्याद्वादनयके द्वारा निर्णय किये हुए सामान्य विशेष गुण पर्यायके समुदायरूप अपने ही शुद्धात्माके [illegible] ज्ञान तथा अनुभवरूप निर्विकल्प समाधिभाव

है । ऐसे भावके लिये अपना आत्मा ही शरण है। आत्माका स्व रूप भी जैसा सर्वज्ञ जिनेन्द्रभगवानने बताया है वही सच्चास्वरूप है । इस सच्चे स्वभावका श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप जो भाव है वही यथार्थ मोक्षमार्ग है । ऐसे मोक्षमार्गका सेवक अवश्य उसी भवसे या कुछ भव धारकर मोक्ष प्राप्त कर सक्ता है । इसी तरह व्यवहार धर्म भी यथार्थ वही है जो सच्चे शुद्ध आत्माके स्वरूपके श्रद्धान ज्ञान आचरणमें सहकारी हो । सर्वज्ञ भगवानने इसी हेतुसे निर्ग्रंथ साधु–मार्ग और सग्रन्थ श्रावकका मार्ग बताया है । जिनमें विकल्प सहित या विचार सहित अवस्थामें अरहंत और सिद्धको देव मानके भजन पूजन करना तथा आचार्य, उपाध्याय और साधुको गुरु मानके भक्ति करना तथा सर्वज्ञके उपदेशके अनुसार साधुओंके रचे हुए शास्त्रोंको शास्त्र जानकर उनका पठनपाठन करना और शास्त्रमें वर्णन किया धर्माचरण यथार्थ आचरण है ऐसा जानकर साधन करना, ऐसा उपदेश दिया है ।

इस उपदेशमें जो स्वभाव अरहंत व सिद्ध भगवानका बताया है वही स्वभाव निश्चयसे हरएक आत्माका है यह भी दिखलाया है । इसी लिये विचारसहित अवस्थामें ऐसे अरहंत सिद्धकी भक्ति अपने आत्माकी ही भक्ति है और यह भक्ति शुद्धात्मानुभवमें पहुंचानेके लिये निमित्त कारण हो सक्ती है । गुरु वे ही हैं जो ऐसे देवोंको मानें व यथार्थ शुद्धात्माके अनुभवका अभ्यास करें । शास्त्र वे ही हैं जिनमें इन्हींका यथार्थ स्वरूप है । धर्माचरण वही है जो इसी प्रयोजनको सिद्ध करे ।

मुनिका चारित्र साम्यभावरूप है, वीतराग रसमें सज्जित है,

धर्मस्वरूपामय है। श्रावकका चारित्र भी साम्यभावकी उपासना रूप है, और स्याद्धर्ममें शोभायमान है। इसलिये सर्वज्ञ कथित निश्चयधर्ममें भलेप्रकार आरूढ होनेसे उसी भवमें मोक्ष होसक्ती है, परन्तु जो भलेप्रकार-जितना चाहिये उतना-निश्चयधर्ममें नहीं ठहर सके उनमें निश्चय और व्यवहार धर्म दोनों साधने पड़ते हैं इससे वे अतिशयकारी पुण्य बांध उत्तम देवगतिको पाकर फिर कुछ भवोंमें मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये वास्तवमें जिनेन्द्र कथित ही मार्ग सच्चा मोक्षमार्ग है। अन्य मिथ्याज्ञानियोंने जो धर्म मार्ग चलाए हैं वे यथार्थ नहीं हैं, क्योंकि उनमें आत्मा, परमात्मा, पुण्य पाप, मुनि व गृहस्थके आचरणका यथार्थ स्वरूप नहीं बतलाया गया है। जिसकी परीक्षा प्रमाणसे की जा सक्ती है। न्यायशास्त्रमें जो युक्तियें दी हैं वे इसीलिये हैं कि जिनसे यथार्थ पदार्थकी परीक्षा होसके।

आत्माको ब्रह्मका अंश मानकर फिर अशुद्ध मानना अथवा सर्वथा नित्य मानना व सर्वथा अनित्य मानना, अथवा सर्वथा शुद्ध मानना व सर्वथा अशुद्ध मानना, व उसको कर्ता न मानकर केवल भोक्ता मानना, आत्मा व अनात्माको परिणाम स्वरूप न मानना, केवल एक आत्मा ही मानकर व केवल एक पुद्गल ही मानकर बन्ध व मोक्षकी व्यवस्था करना, अहिंसाके स्वरूपको यथार्थ न समझकर हिंसा करके भी पुण्यबन्ध मानना अथवा हिंसासे मोक्ष बताना अथवा ज्ञानमात्रसे या श्रद्धाभावसे या आचरण मात्रसे मुक्ति होना कहना, गुण और गुणीको भिन्न मान लेना फिर उनका जुडना मानना, दूसरे

होनेमे व सुखी होनेमे अपनेको पाप या पुण्यका मान लेना व अपनेको दुःख देनेमे पुण्य व सुख देनेमे पाप मान लेना, रागद्वेष सहित देव व गुरुको यथार्थ देव गुरु मानना आदि अयथार्थ पदार्थोका स्वरूप अल्पज्ञानियोंके रचे हुए ग्रथोंमें पाया जाता है। जिसको परीक्षा करके भलीभांति श्री विद्यानन्दी आचार्यने आप्त परीक्षा तथा अष्टसहस्री ग्रन्थोमे दिखला दिया है। जो सर्वज्ञ और अल्पज्ञ कथनोकी परीक्षा करना चाहें उनको इन ग्रन्थोका मनन कर सत्यका निर्णय करलेना चाहिये। जब पदार्थका स्वरूप ही ठीक नहीं है तब जो कोई उनका श्रद्धान करेगा उसको अपने शुद्ध स्वभावकी प्राप्ति रूप मोक्षका लाभ किस तरह होसक्ता है? अर्थात् नहीं होसक्ता। तब क्या उन अयथार्थ पदार्थोंको माननेवाले प्राणियोंका सर्वथा ही बुरा होगा?

इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्यने दिखाया है कि मोक्षमार्ग न पानेसे तो सर्वथा ही बुरा होगा, क्योंकि उनको मोक्षमार्ग मिला ही नहीं। वे मोक्षके विपरीत मार्गपर चल रहे हैं इसलिये जब तक वे इस असत्य मार्गका त्याग न करेंगे तबतक मोक्षमार्ग न पाकर मोक्षमार्ग पर आरूढ न हो मोक्ष कभी भी प्राप्त नहीं कर सकें। तथापि कर्म बन्धके नियमानुसार वे अयथार्थ देव, गुरुके सेवक व अयथार्थ शास्त्रके पठन पाठन करनेवाले व अयथार्थ ध्यान, जप, तप, साधनेवाले व अयथार्थ दान आदि करनेवाले प्राणी अपनी २ कषायोंके अनुसार पुण्य पापका बन्ध करेंगे। मिथ्यात्व व अज्ञानके कारण वे घातिया कर्मरूप ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अंतराय इन चार पाप प्रकृतियोंका तो बहुत गाढ बन्ध करेंगे, तथापि

कषायकी मंदता होनेसे इन पाप प्रकृतियोंमे भी स्थिति व अनुभाग उतना तीव्र न डालेंगे जितना वे ही प्राणी उस समय डालते जब वे पूजा, पाठ, जप, तप, दानादि न करके द्यूत रमन, मांस भक्षण, वेश्या सेवन व परस्त्री सेवन व प्राणीघात व असत्य भाषण व चोरी करना आदिमें फंसकर डालते तथा कषायोंके मंद झलकावमें अशुभ लेश्याके स्थानमें पीत, पद्म या शुक्ल लेश्याके परिणामोंके कारण वे ही जीव असाता वेदनीयके स्थानमें पुण्यरूप साता वेदनीय बांधते, नीच गोत्रके स्थानमें पुण्यरूप उच्च गोत्र कर्म बांधते, अशुभ नामके स्थानमे शुभ नाम कर्म बांधते तथा अशुभ आयुके स्थानमें शुभ आयु बांध लेते। उन पुण्य कर्मोंके उदयसे वे प्राणी मरकर स्वर्गादिमें जाकर देव पद पाते व मनुष्य जन्ममें जाकर राजा महाराजा, धनवान, रूपवान, बलवान व प्रभावशाली व्यक्ति होते, तथापि उन पदोंको नहीं पाते जिन पदोंको यथार्थ धर्मानुरागी अपने यथार्थ धर्मानुरागसे पुण्यकर्म बांध प्राप्त करता। अल्पज्ञानी प्रणीत तत्वोंका मननकर्ता अत्यंत मंदकषायी साधु भी स्वर्गों तक जा सक्ता है। इससे आगे नहीं।

वास्तवमें यहांपर आचार्यने कोई भी पक्षपात नहीं किया है जैसे भाव जिसके हैं उसको वैसे फलकी प्राप्ति बताई है। जो जैन धर्मके तत्वोंके श्रद्धानी नहीं हैं और परोपकार करते, दान करते व कठिन २ तपस्या करते तो उनका यह मंद कषायरूप कार्य निरर्थक नहीं होसक्ता, वे अवश्य कुछ पुण्यकर्म बांधते हैं जिसका फल सांसारिक विभूतिका लाभ है परन्तु संसारके बंधनोंसे उनकी कभी मुक्ति नहीं होसक्ती है। ऐसा तात्पर्य है।

अपने भावोंमें कषायोंको मंद कर सेवा करता है, उनको आहार औषधि देता है, उनकी टहल चाकरी करता है, उसके मंद कषायोंके कारण कुछ पुण्य कर्मका बंध होजाता है जिससे वह मरकर व्यन्तर, भवनवासी व ज्योतिषी इन तीन प्रकार देवोंमें भी नीच देवोंमें अथवा नीच मनुष्योंमें जन्म प्राप्त करलेता है। यहांपर तत्व यह है कि पुण्य कर्मका बंध मंद कषायसे व पापकर्मका बंध तीव्र कषायसे होता है। एक आदमी हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील व परिग्रहके व्यापारमें तन्मय हो रहा है उस समय इसके लोभ या मान आदि कषाय बहुत तीव्र हैं—वही आदमी इन कामोंसे उपयोग हटाकर किसी अज्ञानी साधुको भोजन पान दे रहा है व उसके शरीरकी सेवा कर रहा है अथवा उसको वस्त्रादि दान कर रहा है तब उस आत्मीक भावोंमें हिंसादि कर्मोंमें प्रवर्तनेकी अपेक्षा कषाय मंद है इसलिये इस मूढ़ भक्तिमें भी असाता वेदनीय, तिर्यंच व नरक आयु व नरक तिर्यंचगतिका बंध न पड़कर साता वेदनीय, मनुष्य या देव आयु तथा गतिका बंध पड़ेगा, परन्तु मिथ्यात्व व अज्ञानके फलसे नीच गोत्र व बहुत हलके दर्जेका उच्च गोत्र कर्म बांधेगा व हलके दर्जेका शुभ नाम या अशुभ नामकर्म बांधेगा। मंद कषायसे अघातियामें कुछ पुण्य कर्म बांध लेगा परंतु घातिया कर्मोंमें तो पाप कर्म ज्ञानावरणादिका दृढ़ बंध करेहीगा, क्योंकि वह मूढ़ता व मिथ्या श्रद्धानके आधीन है। इससे वह मरकर भूत प्रेत व्यन्तर होजायगा या अल्प पुण्यवाला मनुष्य हो जायगा—जैसे भावोंमें लेश्या होती है वैसा उसका पुण्य कर्म बंध होता है। मूढ़ भक्ति करनेवाले भी मूढ़ धन व धर्मके पात्रोंके लिये अपने धन, तन व कुटुम्बादिका

ई छोड़कर उनकी सेवा करते हैं। इसीसे भावोंमें कठोरता नहीं
गी है। सेवाके कार्यमें लगे हुए जो भावोंकी कोमलता होती है
कुछ पुण्य भी बांध देती है। वास्तवमें जो मनुष्य द्यूतरमण,
यागमन, मद्यपान, मांसाहार आदि पाप कर्मोंमें आधीन हैं वे ही
ई इनको छोड़कर अपने २ अयथार्थ धर्मकी सेवामें लग जावें
उनके पहलेकी अपेक्षा अवश्य कषाय मंद होगी, इसी कारण
क पापरूप भावोंसे जन नरक या पशुगति पाते हैं
न अल्प पुण्यरूप भावोंसे देव या मनुष्यगति पाते हैं। इनके
द जो सच्चे देव गुरु धर्मके भक्त हैं वे बहुत अधिक पुण्य
कर उत्तम देव तथा मनुष्य होते हैं। इतना ही नहीं जो सुदे-
के भक्त हैं वे मोक्षमार्गी हैं, परन्तु जो कुदेवादि भक्त हैं वे
ारमार्गी हैं, क्योंकि जिनकी भक्ति करता है वे संसारमार्गी हैं।

यहांपर आचार्यने रञ्चमात्र भी पक्षपात न कर वस्तुका
थ स्वरूप बतला दिया है कि मिथ्यात्त्व होते हुए
भी जहां परोपकार या सेवाभाव है वहां कुछ मंदकषाय है।
न अंश कषाय मंद है वहीं पुण्यबंधका कारण है। दूसरा अर्थ
का यह भी लिया जासक्ता है कि जो जन साधु होकरके भी
ी ठीक आचरण पालते हैं परन्तु मिथ्यादृष्टी हैं—जिनके पर-
आत्माका व परमात्माका अनुभव नहीं है व भीतर मोक्षके
राग अनीन्द्रियसुखके स्थानमें इंद्रियजनित अद्भुत सुखकी लालसा
प्से सम्यक्तरहित कुपात्रोंको जो दान किया जावे वह नीच
म व कुभोगभूमिके मनुष्योंमें फलता है। श्री तत्वार्थसारमें अमृ-

ये मिथ्यादृष्टयो जीवा स ज्ञिनोऽसंज्ञिनोऽथवा ।
व्यंतरास्ते प्रजायन्ते तथा भवनवासिन ॥ १६० ॥
स ख्यातीतायुषो मर्त्यास्तिर्यञ्चश्चाप्यसद्दृश ।
उत्कृष्टास्तापमाश्चैव यान्ति ज्योतिष्कदेवताम् ॥ १६१ ॥

भावार्थ–जो मिथ्यादृष्टी जीव मनसहित हैं या मनरहित हैं वे भी कुछ शुभ भावोंसे मरकर व्यंतर या भवनवासी होजाते हैं तथा मिथ्यादृष्टि भोगभूमिया मनुष्य या तिर्यंच या ज्योतिषी देव होते हैं।

अभिप्राय यही है कि मोक्षमार्ग तो यथार्थ ज्ञानी पात्रोंकी ह भक्तिसे प्राप्त होगा, तथापि जहा जितनी मंद कषायता है उतन बड़ा पुण्यका बंध है ॥ ७८ ॥

उत्थानिका–आगे इसही अर्थको दूसरे प्रकारसे दृढ करते हैं

जदि ते विसयकसाया पावत्ति परूविदा व सत्थेसु ।
कह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥ ७९ ॥
यदि ते विषयकषायाः पापमिति प्ररूपिता वा शास्त्रेषु ।
कथं ते तत्प्रतिबद्धा पुरुषा निस्तारका भवन्ति ॥ ७९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जदि) यदि (ते विसयकसाया) वे इंद्रियोंके विषय तथा क्रोधादि कषाय (पावत्ति) पाप रूप हैं ऐसे (सत्थेसु) शास्त्रोंमें (परूविदा) कहे गए हैं (वा कह) तो किस तरह (तप्पडिबद्धा) उन विषय कषायोंमें सम्बन्ध रखनेवाले (ते पुरिसा) वे अल्पज्ञानी पुरुष (णित्थारगा) अपने भक्तोंको संसारसे तारनेवाले (होंति) हो सक्ते हैं।

विशेषार्थ–विषय और कषाय पापरूप हैं इस लिये उनके धारणेवाले पुरुष भी पापरूप ही हैं। तब वे अपने भक्तोंके व दातारोंके वास्तवमें पुण्यके नाश करनेवाले हैं।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्य यह बताते हैं कि इस जगतमें पापबन्धके कारण स्पर्शनादि पांच इन्द्रियोंकी इच्छाएं व उनके निमित्त अनेक पदार्थोंका राग व उनका भोग है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषाय हैं, इस बातको बालगोपाल सब मानते हैं। इन्हींके आधीन संसारके जीव पापकर्मोंको बांधकर संसारमें दुःख उठाते हैं। तथा यह बात भी बुद्धिमें बराबर आने लायक है कि जो इन विषयकषायोंके सर्वथा त्यागी हैं वे ही पूजने योग्य देव व गुरु हो सक्ते हैं, तथा वही धर्म है जो विषयकषायोंसे छुड़ाने और वही शास्त्र है जिसमें इन विषय कषायोंके त्यागनेका उपदेश हो। संसार विषय कषायरूप है व मुक्ति विषय कषायोंसे रहित परम निष्प्रहमार व कषाय रहित है। इसलिये जिनके स्वरूपमें यह मोक्षतत्व झलक रहा हो वे ही अपने भक्तोंको अपना आदर्श बताकर संसारसे तरजानेमें निमित्त होसक्ते हैं। इसलिये उनहीका शरण ग्रहण करने योग्य है, परन्तु जो देव या गुरु संसारमें आशक्त हैं, इन्द्रियोंकी चाहमें फसकर विषयभोग करते हैं व अपनी प्रतिष्ठा करानेमें लवलीन हैं, अपनेसे विरुद्ध व्यक्ति पर क्रोध करनेवाले हैं ऐसे देव, गुरु स्वयं संसारमें आशक्त हैं अतः इनकी भक्ति करनेवाले व इनको दान करनेवाले किस तरह उनकी संगतिमें वीतराग धर्मको पासके हैं? अर्थात् किसी भी तरह नहीं पासके। और न संसारमें कभी मुक्ति पासके हैं। इसलिये ऐसे कारणोंका सम्बन्ध नहीं मिलाना चाहिये जिससे संसार बढ़े, किन्तु ऐसे कारण मिलाने चाहिये जिनसे संसारके दुःखोंसे छूटकर यह आत्मा निज स्वाधीन सुखका विलासी हो जावे।

शास्त्रोंमे छ अनायतनोंकी सगति मना की है, जिनमे यथार्थ वीतराग धर्म न पाइये, ऐसे देव, गुरु, शास्त्र और उनके भक्तगण हैं मोक्षमार्गके प्रकरणमें सगति उन हीकी हितकारी है जो सुदेव सुगु व सुशास्त्र हैं तथा उनके भक्त श्रद्धावान श्रावक हैं।

प० मेधावी धर्मसग्रहश्रावकाचारमे कहते हैं—

कुदेवलिंगशास्त्राणा तच्छ्रिता च भयादित ।
षण्णा समाश्रयो यत्स्यात्तान्यायतनानि षट् ॥ ४४ ॥

भावार्थ–अयथार्थ देव, गुरु, शास्त्र तथा उनके सेवकोंका इन छहोंका आश्रय भय आदि कारणोसे करना है सो छ अनायतन सेवा है। पंडित आशाधर अनागारधर्मामृतमें कहते हैं–

मुद्रा साध्यवहारिकीं त्रिजगतीवन्द्यामपोद्यार्हतीं ।
वामा केचिदहंयवो व्यवहरन्त्यन्ये बहिस्ता श्रिता ॥
लोक भूतवदाविशन्त्यवशिनस्तच्छायया चापरे ।
म्लेच्छन्तीह तकैस्त्रिधा परिचय पुदेहमोहैस्त्यज ॥ ९६ ॥

भावार्थ–इस जगतमें कोई २ तापसी आदि ग्रहण करने योग्य व तीन लोकमें वन्दनीय ऐसी अर्हतकी नग्न मुद्राको छोडकर अहकारी हो अन्य भि . भेषोंको धारण करते ह, दूसरे कोई जैन मुनिका बाहरी चिन्ह धार करके अपनी इद्रियोंको व मनको न वशमे किये हुए भूत पिशाचके समान लोकमे घूमते हैं। दूसरे कोई अरहतभेषकी छायाके द्वारा म्लेच्छोंके समान आचरण करते हैं अर्थात् लोकविरुद्ध शास्त्रविरुद्ध आचरण करते हैं, मठादिमें रहते ह। इसलिये हे भव्य ! तू मिथ्यादर्शनके स्थान इन तीनों प्रकारके मिथ्यातियोंके साथ अपना परिचय मन वचन कायसे छोड।

और भी सगतिका निषेध करते ह—

कुहेतुनयदृष्टान्तगरलोद्गारदारुणे ।
आचार्यव्यंजने स ग भुजंगेजांतु न व्रजेत् ॥ ९८ ॥
रागाद्येवा विपाद्यैर्वा न हन्यादात्मवत्परम् ।
ध्रुव हि प्राग्वधेऽनन्त दु ख भाव्यमुदग्वधे ॥ १०० ॥

भावार्थ–जो आचार्यरूप अपनेको मानते हैं, परन्तु खोटे हेतु नय व दृष्टानरूपी विषको उगलते हैं ऐसे सर्पके समान आचार्योंकी संगति कभी न करे। जो मिथ्याचारित्रवान अपना घात विषयादिक रागादि भावोंमें कर रहे हैं उनसे दूसरोंका घात नहीं करना चाहिये, क्योंकि विषादि देनेसे किसीका नाश हो, किसी नाश णमोकार मंत्रादिके प्रतापसे न हो, परन्तु रागादिसे तो अनन्त दु ख प्राप्त होगा। अर्थात् जिनकी संगतिमें रागादिकी वृद्धि हो उनकी संगति भी नहीं करनी चाहिये।

इसलिये उन सुदेव, सुगुरु व सुधर्म व उनके भक्तोंकी सेवा व संगति करनी चाहिये जिससे मोक्षमार्गकी प्राप्ति हो ॥ ७९ ॥

उत्थानिका–आगे उत्तम पात्ररूप तपोधनका लक्षण कहते हैं–

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥८०॥

उपरतपाप पुरुष समभावो धार्मिकेषु सर्वेषु ।
गुणसमितितोपसेवो भवति स भागी सुमार्गस्य ॥ ८० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(स पुरिसो) वह पुरुष (सुमग्गस्स भागी) मोक्षमार्गका पात्र (हवदि) होता है जो (उवरदपावो) सर्व विषय कषायरूप पापोंसे रहित है, (सव्वेसु धम्मिगेसु समभावो) सर्व धर्मात्माओंमें समानभावका धारी है तथा (गुणसमिदिदोवसेवी) गुणोंके समूहोंको रखनेवाला है।

विशेषार्थ—जो पुरुष सब पापोंसे रहित है, सर्व धर्मात्माओंमें समान दृष्टि रखनेवाला है तथा गुणसमुदायका सेवनेवाला है और आप स्वयं मोक्षमार्गी होकर दूसरोंके लिये पुण्यकी प्राप्तिका कारण है, ऐसा ही महात्मा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका एकाग्रतारूप निश्चय मोक्षमार्गका पात्र होता है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने भक्ति करने योग्य व संसार तारक उत्तम पात्रका स्वरूप बताया है। उसके लिये तीन विशेषण कहे हैं (१) संसारमें विषय कषाय ही पाप हैं जिनको हमने पहली गाथामें कह चुके हैं। जो महात्मा इन्द्रियोंकी चाहको छोड़कर जितेन्द्री होगए हों और क्रोधादि कषायोंके विजयी हों वे ही साधु उपरतपाप हैं। (२) जिनका किसी भी धर्मात्मा साधु या श्रावककी तरफ राग, द्वेष या ईर्षाभाव न हो—सबमें धर्म सामान्य विद्यमान है, इस कारण सब धर्मात्माओंमें परम समताभावके धारी हों (३) जो साधुके अट्ठाईस मूलगुणोंका तथा यथासंभव उत्तर गुणोंका पालनेवाले हों। वास्तवमें जो गुणवान, वीतरागी व निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके सेवनेवाले हैं वे ही यथार्थ मोक्षमार्गके साधक हैं। ऐसे उत्तम पात्रोंकी सेवा अवश्य भक्तोंको मोक्षमार्गकी ओर लगानेवाली है तथा उनको महान पुण्य-बंध करनेवाली है। उत्तम पात्रकी प्रशंसा श्री कुलभद्र आचार्यने सारसमुच्चयमें की है जैसे—

सङ्गादिरहिता धीरा रागादिमलवर्जिता ।
शान्ता दान्तास्तपोभूषा मुक्तिकाङ्क्षणतत्परा ॥ १९६ ॥
मनोवाक्काययोगेषु प्रणिधानपरायणा ।
वृत्ताढ्या ध्यानसम्पन्नास्ते पात्रं करुणापरा ॥ १९७ ॥

धृतिभावनया युक्ता शुभभावनयान्विता ।
तत्त्वार्थाहितचेतस्कास्ते पात्रं दातुरुत्तमाः ॥ १६८ ॥

भावार्थ–जो परिग्रह आरम्भसे रहित हैं धीर हैं, रागद्वेषादि मलोंसे शून्य हैं, शान्त हैं, जितेन्द्रिय हैं, तपरूपी आभूषणको रखनेवाले हैं, मुक्तिकी भावनामें तत्पर हैं, मन वचन काय योगोंकी गुप्तिमें लीन हैं, चारित्रवान हैं, ध्यानी हैं, ज्ञानवान हैं, धैर्यकी भावनामें युक्त हैं, शुभ भावनाके प्रेमी हैं तत्वार्थोंके विचारमें प्रवीण हैं वे ही दातारके लिये उत्तम पात्र हैं ॥ ८० ॥

उत्थानिका–आगे और भी उत्तम पात्र तपोधनोंका लक्षण अन्य प्रकारसे कहते हैं—

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥ ८१ ॥

अशुभोपयोगरहिताः शुद्धोपयुक्ताः शुभोपयुक्ता वा ।
निस्तारयन्ति लोकं तेषु प्रशस्तं लभते भक्तः ॥ ८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(असुभोवयोगरहिदा) जो अशुभ उपयोगसे रहित हैं, (सुद्धवजुत्ता) शुद्धोपयोगमें लीन हैं (वा सुहोवजुत्ता) या कभी शुभोपयोगमें वर्तते हैं वे (लोगं णित्थारयंति) जगतको तारनेवाले हैं (तेसु भत्तो) उनमें भक्ति करनेवाला (पसत्थं) उत्तम पुण्यको (लहदि) प्राप्त करता है।

विशेषार्थ–जो मुनि शुद्धोपयोग और शुभोपयोगके धारी हैं वही उत्तम पात्र हैं। निर्विकल्प समाधिके बलसे जब शुभ और अशुभ दोनों उपयोगोंसे रहित हो जाते हैं तब वीतराग चारित्ररूप शुद्धोपयोगके धारी होते हैं। इस भावमें जब ठहरनेको

समर्थ नहीं होते हैं तब मोह, द्वेष व अशुभ रागसे शून्य होते हुए सराग चारित्रमई शुभोपयोगमें वर्तन करते हुए भव्य जीवोंको तारते हैं। ऐसे उत्तम पात्र साधुओंमें जो भव्य भक्तिवान है वह मनुष्य और उत्तम पुण्य बांधकर स्वर्ग पाता है तथा परम्पराय मोक्षका लाभ करता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि उत्तम पात्रोंकी भक्ति ही मोक्षकी परम्पराय कारण है। उत्तम पात्रोंका यह स्वरूप बताया है कि जो विषय कषाय सम्बन्धी अशुभ पापमई भावोंको कभी नहीं धारण करते हैं तथा जो सर्व विकल्प छोड़कर अपने भावोंको शुद्ध आत्माके अनुभवमें तल्लीन रखते हैं तथा जब इस भावमें अधिक नहीं जम सके तब धर्मानुरागरूप कार्योंमें तत्पर हो जाते हैं जैसे तत्वका मनन, शास्त्रस्वाध्याय, धर्मोपदेश, वैय्यावृत्य आदि। जो कभी भी गृहस्थ सम्बन्धी आरम्भमें नहीं वर्तन करते हैं व साधु तरण तारण हैं। उनका चारित्र दूसरोंके लिये अनुकरण करनेके योग्य है। जो भव्य जीव ऐसे साधुओंकी सेवा करते हैं वे मोक्षमार्गमें दृढ़ होते हैं। सेवारूपी शुभ भावोंसे वे अतिशयकारी पुण्य बांध लेते हैं जिससे स्वर्गादि शुभगतियोंमें जाते हैं और परम्परासे वे मोक्षके पात्र हो जाते हैं। सारसमुच्चयमें कहा है—

निन्दास्तुति समं धीरं शरीरेऽपि च निस्पृहं।
जितेन्द्रियं जितक्रोधं जितलोभमहाभटं ॥ २०५ ॥
रागद्वेषविनिर्मुक्तं सिद्धिसंगमनोद्यतम्।
ज्ञानाभ्यासरतं नित्यं नित्यं च प्रशमे स्थितम् ॥ २०६ ॥

एव विध हि यो दृष्ट्वा स्वगृहाङ्गणमागतम् ।
मात्सर्यं कुरुते मोहात् क्रिया तस्य न विद्यते ।। २०७ ॥
गुरुशुश्रूषया जन्म चित्त सद्ध्यानचिंतया ।
श्रुत यस्य समे याति विनियोग स पुण्यभाक् ॥ १६ ॥

भावार्थ–जो निन्दा स्तुतिमें समान है, धीर है, अपने शरीरसे भी ममता रहित है, जितेन्द्रिय है, क्रोध विजयी है लोभरूप महायोद्धाको वश करनेवाला है, रागद्वेषसे रहित है, मोक्षकी प्राप्तिमे उत्साही है, ज्ञानके अभ्यासमें नित्य रत है तथा नित्य ही शांत भावमे ठहरा हुआ है, ऐसे साधुको अपने घरके आगणकी तरफ आते हुए देखकर जो भक्ति न करके उनसे ईर्षा रखता है वह चारित्रसे रहित है। जिसका जन्म गुरुकी सेवामें, चित्त निर्मल ध्यानकी चिन्तामें, शास्त्र समताकी प्राप्तिमे बीतता है वही नियमसे पुण्यात्मा है। अभिप्राय यही है कि परिग्रहासक्त आत्मज्ञानरहित साधुओंकी भक्ति त्यागने योग्य है और निर्ग्रंथ आत्मज्ञानी व ध्यानी साधुओंकी भक्ति ग्रहण करने योग्य है ॥ ८१ ॥

इस तरह पात्र अपात्रकी परीक्षाको कहनेकी मुख्यतामे पाच गाथाओंके द्वारा तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

इसके आगे आचारके कथनके ही क्रमसे पहले कहे हुए कथनको और भी दृढ करनेके लिये विशेष करके साधुका व्यवहार कहते हैं।

उत्थानिका–आगे दर्शाते हैं कि जो कोई साधु सघमें आवे उनका तीन दिन तक सामान्य सन्मान करना चाहिये। फिर विशेष करना चाहिये।

दिट्ठा पगदं वत्थुं अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं ।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वोत्ति उवदेसो ॥ ८२ ॥

दृष्ट्वा प्रकृतं वस्त्वभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः ।
वर्तता ततो गुणाद्विशेषितव्य इति उपदेशः ॥ ८२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पगदं वत्थुं) यथार्थ पात्रको (दिट्ठा) देखकर (अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं) उठ कर खड़ा होना आदि क्रियाओंसे (वट्टदु) वर्तन करना योग्य है, (तदो) पश्चात् (गुणादो) रत्नत्रयमई गुणोंके कारणसे (विसेसिदव्वो) उसके साथ विशेष वर्ताव करना चाहिये (त्ति उवदेसो) ऐसा उपदेश है।

विशेषार्थ-आचार्य महाराज कहते हैं ऐसे साधुको-जो भीतर वीतराग शुद्धात्माकी भावनाका प्रगट करनेवाला बाहरी निर्ग्रन्थके निर्विकार रूपका धारी है-आते देखकर उस अभ्यागतके योग्य आचारके अनुकूल उठ खड़ा होना आदि क्रियाओंसे उसके साथ वर्तन करें। फिर तीन दिनोंके पीछे उसमें गुणोंकी विशेषताके कारणसे उसके साथ रत्नत्रयकी भावनाकी वृद्धि करनेवाली क्रियाओंके द्वारा विशेष वर्ताव करें। ऐसा सर्वज्ञ भगवान व गणधर देवादिका उपदेश है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने साधुसंघके वर्तावको प्रगट किया है। तपोधन रत्नत्रयमई धर्मकी अति विनय करते हैं इसीसे आप भले प्रकार उसका पालन करते हुए उन साधुओंका भी विशेष सम्मान करते हैं जो उनके निकट आते हैं तथा उनकी परीक्षा करके फिर उनके साथ विशेष कृपा दर्शाकर उनके आनेके प्रयोजनको

नतर उनका इष्ट धर्मकार्य सम्पादन करते हैं। श्री मूलाचार समाचार अधिकारमें इसका वर्णन है—कुछ गाथाएं हैं—

आएसं एज्जंतं सहसा दट्ठूण संजदा सव्वे।
वच्छल्लाणाम गहणपणमणहेदुं समुट्ठन्ति ॥ १६० ॥

भावार्थ—किसी साधुको आते हुए देखकर सर्व साधु उसी समय धर्म प्रेम, सर्वज्ञकी आज्ञा पालन, स्वागत करना तथा प्रणामके लिये उठ खड़े होते हैं।

पच्चुग्गमणं किच्चा सत्तपदं अण्णमण्णपणमं च।
पाहुणकरणीयकदे तिरयणसंपुच्छणं कुज्जा ॥ १६१ ॥

भावार्थ—फिर वे साधु सात पग आगे बढ़कर परस्पर नमस्कार करते हैं—आनेवाले साधुको ये स्वागत करनेवाले साधु साष्टांग नमस्कार करते हैं तथा आगंतुक साधु भी इन साधुओंको इसी तरह नमन करते हैं। इस पाहुणागतिके पीछे परस्पर रत्नत्रयकी कुशल पूछते हैं।

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दादव्वो।
किरियासंथारादिसु सहवासपरिक्खणाहेदुं ॥ १६२ ॥

भावार्थ—आगुन्तुक साधुका नियमसे तीन दिन रात तक रहना, स्वाध्याय आदि छः आवश्यक क्रियाओंमें, शयनके समय, भिक्षा कालमें तथा मल मूत्रादि करनेके कालमें साथ देना चाहिये, जिससे साथ रहनेसे उनकी परीक्षा हो जाने कि यह साधु शास्त्रोक्त साधुका चारित्र पालता है या नहीं।

आवासयठाणादिसु
सज्झायएगविहारे

उनके शुद्धात्माकी भावनामें सहकारी कारणोंके निमित्त उनकी वैयावृत्य करना सो सेवा है, उनके भोजन, शयन आदिकी चिंता रखनी सो पोषण है, उनके व्यवहार और निश्चय रत्नत्रयके गुणोंकी महिमा करनी सो सत्कार है, हाथ जोडकर नमस्कार करना सो अंजली करण है, नमोस्तु ऐसा वचन कहकर दंडवत करना सो प्रणाम है। गुणोंसे अधिक तपोधनोंकी इस तरह विनय करना योग्य है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने विनय करनेके भेद बता दिये हैं तथा यह भाव झलका दिया है कि तपोधनोंको परस्पर विनय करना चाहिये। तथापि जो साधु अधिक गुणवान होते हैं उनकी विनय नीची श्रेणीके साधु प्रथम करते हैं। आगन्तुक साधुका किस तरह स्वागत किया जाता है तथा उसकी परीक्षा करके उसको ज्ञान दान व प्रायश्चित्त दानसे किस तरह सन्मानित किया जाता है यह बात पहले कही जाचुकी है। यहां सामान्यपने कथन है जिससे यह भी भाव लेना चाहिये कि गृहस्थ श्रावकोंको साधुओंकी विनय भले प्रकार करनी चाहिये–उनको आते देखकर खडा होना, उनको उच्चासन देना, उनकी वैयावृत्य करनी, उनकी शरीररक्षाका भोजनादि द्वारा ध्यान रखना, उनके रत्नत्रय धर्मकी महिमा करनी, हाथ जोड़े विनयसे बैठना, नमोस्तु कहकर दंडवत करना ये सब श्रावकोंका मुख्य कर्तव्य है। विनय भक्ति तथा धर्मप्रेमकी बढ़ानेवाला है व अपना सर्वस्व विनयके पात्रमें अर्पण करानेवाला है। इस लिये विनयको तपमें गर्भित किया है। श्री मूलाचारके पंचाचार अधिकारमें कहा है —

अमुग्गण स्दिकम्म पायण अजलीय मुडाण ।
पच्चूगच्छणमेदे पच्छिदससणुसाधण चेत्र ॥ १७६ ॥
णीच ठाण णीच गमण णीच च आसण सयण ।
आसणदाण उवगरणदाण ओगासदाण च ॥ १७७ ॥
पडिरूवकायसफासणदा पडिरूवकालकिरियाय ।
पेसणकरण सथरकरण उवकरणपडिलिहण ॥ १७८ ॥
पूयावयण हिदभासण च मिदभासण च मधुर च ।
सुत्ताणुवीचिवयण अणिट्ठुरमक्कस वयण ॥ १८० ॥
उवसतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलण वयण ।
एसो वाइयविणओ जहारिह होदि कादव्वो ॥ १८१ ॥

भावार्थ—ऋषियोंके लिये आदर पूर्वक उठ खडा होना, सिद्ध भक्ति श्रुतभक्ति गुरुभक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग आदि करना, प्रणाम करना, हाथ जोडना, आते हुए सामने लेनेको जाना, जाते हुए उनके पीछे जाना, देव तथा गुरुके सामने नीचे खडे होना गुरुके बाए तरफ या पीछे चलना, उनसे नीचे बैठना, सोना, गुरुको आसन देना, पीछी कमडल शास्त्र देना, बैठने व ध्यान करनेको गुफा आदि बना देना, गुरु व साधुके शरीरव बलके योग्य शरीरका मर्दन करना, ऋतुके अनुसार सेवा करनी, आज्ञानुसार सेवा करनी, आज्ञानुसार वर्तना, तिनकोंका सथारा बिछा देना, उनके मडल पुस्तकका भले प्रकार पीछीसे झाड देना इत्यादि विनय करना योग्य है आदर पूर्वक वचन कहना अर्थात् बहुवचनका व्यवहार करना, इस लोक परलोकमें हितकारी बचन कहना, अल्प अक्षरोंमें मर्यादारूप बोलना, मीठा वचन कहना, शास्त्रके अनुसार] वचन कहना, कठोर व कर्कशवचन न कहना, शात वचन कहना,

गृहस्थके योग्य वचन न कहना, क्रिया रहित वाक्य न बोलना, निरादरके वचन न कहना सो सब वचन द्वारा विनय है ॥८३॥

उत्थानिका-आगे अभ्यागत साधुओंकी विनयको दूसरे प्रकारसे बताते हैं-

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया ।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥ ८४ ॥

अभ्युत्थेया श्रमणा सूत्रार्थविशारदा उपासेया ।
संयमतपोज्ञानाढ्या प्रणिपतनीया हि श्रमणैः ॥ ८४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(समणेहिं) साधुओंके द्वारा (हि) निश्चय करके (सुत्तत्थविसारदा) शास्त्रोंके अर्थमें पंडित तथा (संजमतवणाणड्ढा) संयम, तप और ज्ञानसे पूर्ण (समणा) साधुगण (अब्भुट्ठेया) खड़े होकर आदर करने योग्य हैं, (उवासेया) उपासना करने योग्य हैं तथा (पणिवदणीया) नमस्कार करने योग्य हैं ।

विशेषार्थ-जो निर्ग्रंथ आचार्य, उपाध्याय या साधु विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावमई परमात्मतत्त्वको आदि लेकर अनेक धर्ममई पदार्थोंके ज्ञानमें वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित मार्गके अनुसार प्रमाण नय, निक्षेपोंके द्वारा विचार करनेके लिये चतुर बुद्धिके धारक हैं तथा बाहरमें इंद्रियसंयम व प्राणसंयमको पालते हुए भीतरमें इनके बलसे अपने शुद्धात्माके ध्यानमें यत्नशाल हैं ऐसे संयमी हैं तथा बाहरमें अनशनादि तपको पालते हुए भीतरमें इनके बलसे परद्रव्योंकी इच्छाको रोककर अपने आत्म स्वरूपमें तपते हैं ऐसे तपस्वी हैं, तथा बाहरमें परमागमका अभ्यास करते हुए भीतरमें स्वसंवेदन ज्ञानसे पूर्ण हैं ऐसे साधुओंको दूसरे साधु आते देख उठ खड़े

ते हैं, परम चैतन्य ज्योतिमई परमात्म पदार्थके ज्ञानके लिये
की परम भक्तिसे सेवा करते हैं तथा उनको नमस्कार करते हैं।
दे कोई चारित्र व तपमें अपनेसे अधिक न हो तौ भी सम्य-
नमें बड़ा समझकर श्रुतकी विनयके लिये उनका आदर करते
। यहां यह तात्पर्य है कि जो कि बहुत शास्त्रोंके ज्ञाता है, परन्तु
रित्रमें अधिक नहीं हैं तौभी परमागमके अभ्यासके लिये उनको
योग्य नमस्कार करना योग्य है। दूसरा कारण यह है कि वे
सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानमें पहलेसे ही दृढ़ हैं। जिसके सम्यक्त
ज्ञानमें दृढ़ता नहीं है वह साधु वन्दना योग्य नहीं है। आग-
में जो अल्पचारित्रवालोंको वन्दना आदिका निषेध किया है
इसी लिये कि मर्यादाका उल्लंघन न हो।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है
जो सच्चे श्रमण हैं वे ही विनयके योग्य हैं। जो श्रमणाभास
वे वन्दना योग्य नहीं हैं। सच्चे साधुओंके गुण यही हैं कि
जिन सिद्धांतके भावके मर्मी हों और संयम तपमें सावधान रहते
आत्मीक तत्त्वज्ञानमें भीने हुए हों। जिसमें सम्यग्दर्शन तथा
सम्यग्ज्ञान है तथा अपनेसे अधिक तप व चारित्र नहीं है अर्थात्
कठिन तप व चारित्र नहीं पालते हैं तौभी अपने मूलगुणोंमें
सावधान हैं उनकी भी भक्ति अन्य साधुओंको करनी योग्य है।
। साधुओंमें जो बड़े विद्वान हैं उनकी तो अच्छी तरह सेवा
नी योग्य है, अर्थात् उनकी भक्ति करके उनसे सूत्रका भाव
लेना योग्य है। विनय करना धर्मात्मामें प्रेम बढ़ानेके
द्वार धर्ममें अपना प्रेम बढ़ा देता है। स्वयं श्रद्धा, ज्ञान व

चारित्रमें दृढ़ होनेके लिये रत्नत्रय धर्मसाधकोंकी विनय अतिशय आवश्यक है ।

अनगारधर्मामृतमें सप्तम अध्यायमें कहा है —

ज्ञानलाभार्थमाचारविशुद्ध्यर्थं शिवार्थिभि ।
आराधनादिसंसिद्ध्यै कार्यं विनयभावनम् ॥ ७८ ॥

भावार्थ-ज्ञानके लाभके लिये, आचारकी शुद्धिके लिये व सम्यग्दर्शन आदि आराधनाकी सिद्धिके लिये मोक्षार्थियोंको विनयकी भावना निरंतर करनी योग्य है ।

और भी कहा है—

द्वारं यः सुगतेर्गणेशगणयोर्यः कार्मणं यस्तपो—
वृत्तज्ञानऋजुत्वमार्दवयशः सौचित्यरत्नार्णवः ।
यः संक्लेशदवाम्बुदः श्रुतगुरुद्योतैकदीपश्च यः,
स क्षेप्यो विनयः परं जगदिनाज्ञापारवश्येन चेत् ॥७९॥

भावार्थ-जो विनय मोक्षका या स्वर्गका द्वार है, संघनाथ और संघको वश करनेवाला है, तप, ज्ञान, आर्जव, मार्दव, यश, शोच, धर्म आदि रत्नोंका समुद्र है, संक्लेशरूपी दावानलको बुझानेके लिये मेघ जल है, शास्त्र और गुरुके उद्योत करनेका दीपक है, ऐसा विनय तप सर्वज्ञकी आज्ञामें चलनेवालेके लिये क्या निरादरके योग्य है। अर्थात् सदा ही भक्तिपूर्वक करने योग्य है ॥८४॥

उत्थानिका-आगे श्रमणाभास कैसा होता है इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

ण हवदि समणोत्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तोवि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥८५॥

न भवति श्रमण इति मतः संयमतपःसूत्रसंप्रयुक्तोऽपि ।
यदि श्रद्धत्ते नार्थानात्मप्रधानान् जिनाख्यातान् ॥ ८५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(सजमतवसुत्तसपजुत्तोवि) सम, तप तथा शास्त्रज्ञान महित होनेपर भी (जदि) जो कोई जिणक्खादे) जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए (आदपधाणे अत्थे) आत्माको स्यरूप पदार्थोंको (ण सद्दहदि) नहीं श्रद्धान करता है (समणो- तेणहवदि मदो) वह साधु नहीं हो सक्ता है ऐसा माना गया है।

विशेषार्थ–आगममें यह बात मानी हुई है कि जो कोई धु सयम पालता हो, तप करता हो व शास्त्रज्ञान महित भी हो, रन्तु जिसके तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषरहित सम्यक्त न हो र्थात् जो वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रगट दिव्यध्वनिके कहे अनुसार णधर देवोंद्वारा ग्रन्थोंमें गथित निर्दोष परमात्माको लेकर पदार्थ मूपी रुचि नहीं रखता है, वह श्रमण नहीं है।

भावार्थ–साधुपद हो या श्रावकपद हो दोनोंमें सम्यग्दर्शन प्रधान है। सम्यक्तके बिना ग्यारह अग, दस पूर्वका ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान है तथा घोर मुनिका चारित्र भी कुचारित्र है। वही श्रमण है जिसको अतरङ्गसे आत्माका अनुभव होता है और जो जीव अजीव, आश्रव, बध, सवर, निर्जरा मोक्ष, पुण्य, पाप इन नौ पदार्थोंके स्वरूपको जिनागमके अनुसार निश्चय और व्यवहार नयोंके द्वारा यथार्थ जानकर श्रद्धान करता है। भावके बिना मात्र द्रव्यलिंग एक नाटकके पात्रकी तरह भेषमात्र है। वास्तवमें सच्चा ज्ञान आत्मानुभव है व सच्चा चारित्र स्वरूपाचरण है। इन दोनोंका होना [illegible] के होते हुए ही सभव है। सम्यक्तके बिना मात्र नाहरी [illegible] होता है।

[illegible] आचार्य कहते है—

सम्यक्त्व परमं रत्नं शङ्कादिमलवर्जितम् ।
संसारदुःखदारिद्र्यं नाशयेत्सुविनिश्चितम् ॥ ४० ॥
सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसङ्गमः ।
मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा ॥ ४१ ॥
पंडितोऽसौ विनीतोऽसौ धर्मज्ञः प्रियदर्शनः ।
यः सदाचारसम्पन्नः सम्यक्त्वदृढमानसः ॥ ४२ ॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ही परम रत्न है। जिसमें शंका आदि पचीस दोष न हों यही निश्चयसे संसारके दुःखरूपी दारिद्र्यको नाश कर देता है। जो सम्यग्दर्शनसे संयुक्त है उसको निश्चयसे निर्वाणका लाभ होगा और मिथ्यादृष्टी जीवका सदा ही संसारमें भ्रमण होगा। वही पंडित है, वही शिष्य है, वही धर्मज्ञाता है, वही दर्शनमें प्रिय है जो सम्यग्दर्शनको मनमें दृढतासे रखता हुआ सदाचारको अच्छी तरह धारण करता है। भाव ही प्रधान है ऐसा श्री कुन्दकुन्द भगवानने भावपाहुडमें कहा है —

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥ ५६ ॥

भावार्थ—जो शरीर आदिके ममत्वसे रहित है, मान कषायोंसे बिलकुल दूर है तथा जिसका आत्मा आत्मामें लीन है वही भावलिंगी साधु है।

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं ।
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए ॥ १०० ॥

भावार्थ—जो भावलिंगी सम्यग्दृष्टी साधु हैं वे ही कल्याणकी परम्परासे पूर्ण सुखोंको पाते हैं तथा जो मात्र द्रव्यलिंगी साधु हैं वे मनुष्य, तिर्यंच व कुदेवकी योनियोंमें दुःखोंको पाते हैं।

जह तारायणसहिय ससहरबिंबं खमंडले विमले।
भाविय तववयविमलं जिणलिंग दंसणविसुद्धं ॥ १४६ ॥

भावार्थ–जैसे निर्मल आकाश मंडलमें तारागण सहित चंद्रमाका बिम्ब शोभता है ऐसे ही सम्यग्दर्शनमें विशुद्ध व तप तथा व्रतोंमें निर्मल जिनलिंग या मुनिलिंग शोभता है।

उत्थानिका–आगे जो रत्नत्रय मार्गमें चलनेवाला साधु है उसको जो दूषण लगाता है उसके दोषको दिखलाते हैं–

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो॥८६॥

अपवदति शासनस्थं श्रमणं दृष्ट्वा प्रद्वेषतो यो हि।
क्रियासु नानुमन्यते भवति हि स नष्टचारित्रः ॥ ८६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जो) जो कोई साधु (हि) निश्चयसे (सासणत्थं) जिनमार्गमें चलते हुए (समणं) साधुको (दिट्ठा) देखकर (पदोसदो) द्वेषभावसे (अववददि) उसका अपवाद करता है, (किरियासु) उसके लिये विनयपूर्वक क्रियाओंमें (णाणुमण्णदि) नहीं अनुमति करता है (सो) वह साधु (हि) निश्चयसे (णट्ठचारित्तो) चारित्रसे भ्रष्ट (हवदि) हो जाता है।

विशेषार्थ–जो कोई साधु दूसरे साधुको निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गमें चलते हुए देखकर भी निर्दोष परमात्माकी भावनासे शून्य होकर द्वेषभावसे या कषायभावसे उसका अपवाद करता है इतना ही नहीं उसको यथायोग्य वंदना आदि कार्योंकी अनुमति नहीं करता है वह किसी अपेक्षासे मर्यादाके उल्लंघन करनेसे चारित्रसे भ्रष्ट हो जाता है। जिसका भाव यह है कि यदि रत्नत्रय

सम्यक्त्वं परमं रत्नं शङ्कादिमलवर्जितम्।
संसारदुःखदारिद्र्यं नाशयेत्सुविनिश्चितम्॥ ४०॥
सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः।
मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा॥ ४१॥
पण्डितोऽसौ विनीतोऽसौ धर्मज्ञः प्रियदर्शनः।
यः सदाचारसम्पन्नः सम्यक्त्वदृढमानसः॥ ४२॥

भावार्थ–सम्यग्दर्शन ही परम रत्न है। जिसमें शङ्का आदि पचीस दोष न हों यही निश्चयसे संसारके दुःखरूपी दारिद्रको नाश कर देता है। जो सम्यग्दर्शनसे संयुक्त है उसको निश्चय निर्वाणका लाभ होगा और मिथ्यादृष्टी जीवका सदा ही संसार भ्रमण होगा। वही पंडित है, वही शिष्य है, वही धर्मज्ञाता है, व दर्शनमें प्रिय है जो सम्यग्दर्शनको मनमें दृढ़तासे रखता हुआ सदाचारको अच्छी तरह धारण करता है। भाव ही प्रधान है ऐसा श्री कुंदकुंद भगवानने भावपाहुड़में कहा है —

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू॥ ५६॥

भावार्थ–जो शरीर आदिके ममत्वसे रहित है, मान कषायोंसे बिलकुल दूर है तथा जिसका आत्मा आत्मामें लीन है वही भावलिंगी साधु है।

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं।
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए॥ १००॥

भावार्थ–जो भावलिंगी सम्यग्दृष्टी साधु हैं वे ही कल्याणकी परम्परासे पूर्ण सुखोंको पाते हैं तथा जो मात्र द्रव्यलिंगी साधु हैं वे मनुष्य, तिर्यंच व कुदेवकी योनियोंमें दुःखोंको पाते हैं।

जह तारायणसहिय ससहरविंबं खमंडले विमले।
भाविय तववयविमलं जिणलिंग दंसणविसुद्ध ॥ १४६ ॥

भावार्थ–जैसे निर्मल आकाश मंडलमें तारागण सहित चंद्रमाका बिम्ब शोभता है वैसे ही सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध व तप तथा व्रतोंसे निर्मल जिनलिंग या मुनिलिंग शोभता है।

उत्थानिका–आगे जो रत्नत्रय मार्गमें चलनेवाला साधु है उसको जो दूषण लगाता है उसके दोषको दिखलाते हैं–

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो॥८६॥

अपवदति शासनस्थं श्रमणं दृष्ट्वा प्रद्वेषतो यो हि।
क्रियासु नानुमन्यते भवति हि स नष्टचारित्र ॥ ८६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जो) जो कोई साधु (हि) निश्चयसे (सासणत्थं) जिनमार्गमें चलते हुए (समणं) साधुको (दिट्ठा) देखकर (पदोसदो) द्वेषभावसे (अववददि) उसका अपवाद करता है, (किरियासु) उसके लिये विनयपूर्वक क्रियाओंमें (णाणुमण्णदि) नहीं अनुमति रखता है (सो) वह साधु (हि) निश्चयसे (णट्ठचारित्तो) चारित्रसे भ्रष्ट (हवदि) हो जाता है।

विशेषार्थ–जो कोई साधु दूसरे साधुको निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गमें चलते हुए देखकर भी निर्दोष परमात्माकी भावनासे शून्य होकर द्वेषभावसे या कषायभावसे उसका अपवाद करता है इतना ही नहीं उसको यथायोग्य वंदना आदि कार्योंकी अनुमति नहीं करता है वह किसी अपेक्षासे मर्यादाके उल्लंघन करनेसे चारित्रसे भ्रष्ट हो [illegible] जिसका भाव यह है कि यदि रत्नत्रय

मार्गमें चलते हुए साधुको देखकर ईर्षाभावसे दोष ग्रहण करे तो वह प्रगटपने चारित्र भ्रष्ट हो जाता है। पीछे अपनी निन्दा करके उस भावको छोड़ देता है तो उसका दोष मिट जाता है अथवा कुछ काल पीछे इस भावको त्यागता है तोभी उसका दोष नहीं रहता है परन्तु यदि ऐसी ही निन्दा रूप भावको दृढ़ करता हुआ तीव्र कषाय भावसे मर्यादाको उल्लंघकर वर्तन करता रहता है तो वह अवश्य चारित्र रहित होजाता है। बहुत शास्त्र ज्ञाताओंको थोड़े शास्त्रज्ञाता साधुओंका दोष नहीं ग्रहण करना चाहिये और न अल्पशास्त्री साधुओंको उचित है कि थोड़ासा पाठ मात्र जानकर बहुत शास्त्री साधुओंका दोष ग्रहण करें, किंतु परस्पर कुछ भी सारभाव लेकर स्वय शुद्ध स्वरूपकी भावना ही करनी चाहिये, क्योंकि रागद्वेषके पैदा होने हुए न बहुत शास्त्र ज्ञाताओंको शास्त्रका फल होता है न तपस्वियोंको तपका फल होता है।

भावार्थ–इस गाथाका यह भाव है कि साधुओंको दूसरे साधुओंको देखकर आनन्द भाव लाना चाहिये तथा उनकी यथा योग्य विनय करनी चाहिये। जो कोई साधु अपने अहंकारके वश दूसरे जिन शासनके अनुकूल चलनेवाले साधुके साथ द्वेषभाव रखके आदर प्रतिष्ठा करना तो दूर रहो, उनके चारित्रकी अनुमोदना करना तो दूर रहो उल्टी उनकी वृथा निन्दा करता है वह साधु स्वयं चारित्रसे रहित हो जाता है। धर्मात्माओंको धर्मात्माओंके साथ प्रेमभाव, आदर भाव रखके परस्पर एक दूसरेके गुणोंकी अनुमोदना करनी चाहिये–तथा वीतरागभावमें रह... स्वभावकी भावना करनी चाहिये। जिन साधुओंकी

परोक्ष ग्रहण व परनिन्दा करनेकी आदत पड़ जाती है वे साधु अपने भाव साधुपनेसे छूटकर केवल द्रव्यलिंगी ही रह जाते हैं, अतएव इस भावको दूरकर साधुओंको साम्य भावरूपी बागमें रमण करना योग्य है। अनगारभावना मूलाचारमें कहा है—

भास विणयविहूण धम्मविरोही विवज्जये वयण।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा णवि ते भासंति सप्पुरिसा ॥८७॥
जिणवयणभासिदत्थ पत्थ च हिदं च धम्मसंजुत्तं।
समओवयारजुत्त पारत्तहिदं कधं करेंति ॥ ६४ ॥

भावार्थ—साधुजन विनयरहित, धर्मविरोधी वचनको कभी नहीं कहते हैं तथा यदि कोई पूछे वा न पूछे वे कभी भी धर्म भावरहित वचन नहीं कहते हैं। साधुजन ऐसी कथा करते हैं जो जिन वचनोंमें प्रगट किये हुए पदार्थोंको बतानेवाली हो, पथ्य हो अर्थात् समझने योग्य हो, हितकारी हो व धर्मभाव सहित हो, आगमकी विनय सहित हो तथा परलोकमें भी हितकारी हो।

मूलाचारके पचाचार अधिकारमें कहा है कि सम्यग्दृष्टी साधुओंको वात्सल्यभाव रखना चाहिये—

चादुव्वण्णे संघे चदुगतिससारणित्थरणभूदे।
वच्छल्लं कादव्वं वच्छे गावी जहा गिद्धो ॥ ६६ ॥

भावार्थ—जैसे गौ अपने बच्चेमें प्रेमालु होती है उसी तरह चार प्रकार मुनि, आर्जिका, श्रावक, श्राविकाके संघमें—जो चार गतिरूप ससारसे पार होनेके उपायमें लीन हैं—परम प्रेमभाव रखना चाहिये।

अनगारधर्मामृत द्वि० अध्यायमें कहा है—

धेनुः स्ववत्स इव रागरसादभीक्ष्णं,
दृष्टिं क्षिपेन मनसापि सहेत्क्षतिं च ।
धर्मं सधर्मसु सुधीः कुशलाय बद्ध-
प्रेमानुबन्धमथ विष्णुवदुत्सहेत ॥ १०७ ॥

भावार्थ–जैसे गौ अपने बछडेपर निरंतर प्रेमालु होकर दृष्टि रखती है तथा मनमे भी उसकी हानिको नहीं सहन कर सक्ती है इसी तरह बुद्धिमान मनुष्यको चाहिये कि वह धर्म तथा धर्मात्मा जोंको अपने हितके लिये निरन्तर प्रेमभावसे देखे तथा धर्म व धर्मात्माकी कुछ भी हानि मनसे भी सहन न करे–सदा प्रेमरसमें बंधे हुए साधर्मी मुनियो व श्रावकोंकी सेवामें उत्साहवान हो विष्णुकुमार मुनिकी तरह उद्यम करता रहे । इस कथनसे सिद्ध है कि साधुजन कभी दोषग्राही नहीं होते, न मनमें द्वेषभाव रखते हुए योग्य मार्गपर चलनेवालोंकी निन्दा करते है, किंतु सर्व साधर्मीजनोंसे प्रेमभाव रखते हुए उनका हित ही चाहते है ।

यहा शिष्यने कहा कि आपने अपवाद मार्गके व्याख्यानके समय शुभोपयोगका वर्णन किया अब यहा फिर किसलिये उसका व्याख्यान किया गया है ? इसका समाधान यह है कि यह कहना आपका ठीक है, परन्तु वहापर सर्व त्याग स्वरूप उत्सर्ग व्याख्या नको करके फिर असमर्थ साधुओंको कालकी अपेक्षासे कुछ भी ज्ञान, संयम व शौचका उपकरण आदि ग्रहण करना योग्य है इस अपवाद व्याख्याकी मुख्यता है । यहा तो जैसे भेद नयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप रूप चार प्रकार आराधना होती है सो ही अभेद नयसे सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूपसे दो प्रकारकी होती है । इनमें भी और अभेद नयसे

एक ही वीतराग चारित्ररूप आराधना होती है तैसे ही भेद-नयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र रूपसे तीन प्रकार मोक्ष मार्ग है सो ही अभेद नयसे एक श्रमणपना नामका मोक्ष मार्ग है जिसका अभेद रूपसे मुख्य कथन "एयग्गगदो समणो" इत्यादि चौदह गाथाओंमें पहले ही किया गया। यहा मुख्यतासे उसीका भेदरूपसे शुभोपयोगके लक्षणको कहते हुए व्याख्यान किया गया इसमें कोई पुनरुक्तिका दोष नहीं है ॥ ८६ ॥

इस प्रकार समाचार विशेषको कहते हुए चौथे स्थलमें गाथाएं आठ पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो स्वयं गुणहीन होता हुआ दूसरे अपनेसे जो गुणोंमें अधिक हैं उनसे अपना विनय चाहता है उसके गुणोंका नाश हो जाता है—

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जोवि होमि समणोत्ति।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥ ८७ ॥
गुणतोऽधिकस्य विनयं प्रत्येषको योपि भवामि श्रमण इति।
भवन् गुणाधरो यदि स भवत्यनन्तसंसारी ॥ ८७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(यदि) यदि (जोवि) जो कोई भी (समणोत्ति होमि) मैं साधु हूं ऐसा मानके (गुणदोधिगस्स) अपनेसे गुणोंमें जो अधिक है उसके द्वारा (विणयं) अपना विनय (पडिच्छगो) चाहता है (सो) वह साधु (गुणाधरो) गुणोंसे रहित (होज्जं) होता हुआ (अणंतसंसारी होदि) अनन्त संसारमें भ्रमण करनेवाला होता है।

विशेषार्थ—मैं श्रमण हूं इस गर्वसे—जो साधु अपनेसे व्यवहार [illegible] साधनमें अधिक है—उससे

आदि विनयकी इच्छा करता है, वह स्वय निश्चय व्यवहार रत्नत्र यरूपी गुणमे हीन होता हुआ किसी अपेक्षा अनन्त ससारमें भ्रमण करनेवाला होता है। यहा यह भाव है कि यदि कोई गुणाधि कसे अपने विनयकी वाछा गर्वसे करे, परन्तु पीछे भेदज्ञानके बलसे अपनी निन्दा करे तो अनन्त ससारी न होवे अथवा कालान्तरमें भी अपनी निंदा करे तोभी दीर्घ ससारी न होवे, परन्तु जो मिथ्या अभिमानसे अपनी बड़ाई, पूजा व लाभके अर्थ दुराग्रह या हठ धारण करे सो अवश्य अनन्तससारी हो जावेगा।

भावार्थ-यहा भी आचार्यने श्रमणाभासका स्वरूप बताया है। कोई २ साधु ऐसे हों जो स्वय रत्नत्रय धर्मके साधनमें शिथिल हों और गर्व यह करें कि हमको साधु जानकर हमसे अधिक गुणधारी भी हमको नमस्कार करें, तो ऐसे साधु किसी तरह साधु नहीं रह सक्ते। उनके परिणामोंमें मोक्ष मार्गकी अरुचि तथा मानकी तीव्रता हो जानेसे वे साधु निश्चय व्यवहार साधु धर्मसे भृष्ट होकर सम्यग्दर्शनरूपी निधिसे दलिद्री होते हुए अनतानुबधी कषायके वशीभूत हो दुर्गतिमे जा ऐसे भ्रमण करते है कि उनका ससारमें भ्रमण अभव्यकी अपेक्षा अनत व भव्यकी अपेक्षा बहुत दीर्घ होजाता है। वास्तवमें साधु वही होसक्ता है जिसको मान अपमानका, निन्दा बडाईका कुछ भी विकल्प न हो-निरन्तर समताभावमें रमण करता रहता हुआ परम वीतरागतासे आत्माके आनदके रसको पान करता है और आप धर्मात्माओंका सेवक होता हुआ उनका उपकार करता रहता है। केवल द्रव्यलिंग साधुपना नहीं है। जहा भाव साधुपना है वहीं

सचा साधुपना है। भाव विना बाहरी क्रिया फलदाई नहीं होसक्ती है। ऐसा भावपाहुडमें स्वामीने कहा है—

भावविसुद्धिणिमित्त बाहिरगथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अभतरगथजुत्तस्स ॥ ३ ॥
भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तव चरइ कोडिकोडीओ।
जम्मतराइ बहुसो लवियहत्थो गलियवत्थो ॥ ४ ॥
परिणाममि असुद्धे गथे मुञ्चेइ बाहरे य जइ।
बाहिरगथचाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥ ५ ॥
जाणहि भाव पढम किं ते लिंगेण भावरहिएण।
पथिय सिवपुरिपंथ जिणउवइट्ठ पयत्तेण ॥ ६ ॥
भावरहिएण सपुरिस अणाइकाल अणतससारे।
गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरणिग्गथरूवाइं ॥ ७ ॥

भावार्थ—भावोंकी विशुद्धताके लिये ही बाहरी परिग्रहका त्याग किया जाता है। जिसके भीतर रागादि अभ्यतर परिग्रह विद्यमान है उसका बाहरी त्याग निष्फल है। यदि कोई वस्त्र त्याग हाथ लम्बेकर कोड़ाकोडी जन्मों तक भी तप करे तोभी भाव रहित साधु सिद्धि नहीं पासक्ता। जो कोई परिणामोंमें अशुद्ध है और बाहरी परिग्रहोंको त्यागता है—भाव रहितपना होनेसे बाहरी ग्रन्थका त्याग उसका क्या उपकार कर सक्ता है। हे मुने! भावको ही मुख्य जान, इसीको ही जिनेन्द्रदेवने मोक्षमार्ग कहा है। भाव रहित भेषसे क्या होगा? हे सत्पुरुष! भाव रहित होकर इस जीवने इस अनादि अनन्त ससारमें वस्तुतने बाहरी निर्ग्रंथरूप वार-वार ग्रहण किये हैं और छोडे हैं। और भी कहा है—

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीय-णियर णासइ भावेण दव्वेण ॥ ५४ ॥

णगत्तण अकज्ज भावणरहिय जिणेहिं पण्णत्त ।
इय णाऊण य णिच्च भाविज्जहि अप्पय धीर ॥ ५५ ॥

भावार्थ–भावोसे ही नग्नपना है । मात्र बाहरी नग्न भेषमे क्या ? भाव सहित द्रव्यलिंगके प्रतापसे ही यह जीव कर्म प्रकृति योंके समूहका नाश कर सक्ता है । जिनेन्द्र भगवानने कहा है कि जिसके भाव नहीं है उसका नग्नपना कार्यकारी नहीं है ऐसा जान करके धीर ! नित्य ही आत्माकी भावना कर । जो गुणाधिकोंकी विनय चाहते हैं उनके सम्बन्धमें दर्शनपाहुडमें स्वामीने कहा है —

जे दंसणेण भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराण ।
ते होंति लल्लमूआ वोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥ १२ ॥

भावार्थ–जो साधु स्वयं सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं और जो सम्यग्दृष्टी साधु हैं उनसे अपने चरणोंमें नमस्कार कराते हैं वे मरके लूले वहरे होते हैं उनको रत्नत्रयकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है ।

उत्थानिका–आगे यह दिखलाते हैं कि जो स्वयं गुणोंमें अधिक होकर गुणहीनोंके साथ वन्दना आदि क्रियाओंमें वर्तन करते हैं उनके गुणोंका नाश होजाता है ।

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु ।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ॥ ८८ ॥

अधिकगुणाः श्रामण्ये वर्तन्ते गुणाधरैः क्रियासु ।
यदि ते मिथ्योपयुक्ता भवन्ति प्रभ्रष्टचारित्राः ॥ ८८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(सामण्णे) मुनिपनेके चारित्रमें (अधिगगुणा) उत्कृष्ट गुणधारी साधु (जदि) जो (गुणाधरेहिं) गुणहीन साधुओंके साथ (किरियासु) वन्दना आदि क्रियाओंमें

(वट्टति) वर्तन करते हैं (ते) वे (मिच्छुगजुत्ता) मिथ्यात्व ...
(पब्भट्ठचारित्ता) चारित्र रहित (हवंति) होजाते हैं।

विशेषार्थ—यदि कोई बहुत शास्त्रके ज्ञाना
चारित्र गुणमें अधिक होनेपर भी अपने ज्ञानादि
लिये वंदना आदि क्रियाओंमें वर्तन करे तो ...
यदि अपनी बडाई व पूजाके लिये उनके साथ ...
तो मर्यादा उल्लंघनमें दोष है। यहां तात्पर्य ...
वंदना आदि क्रियाके व तत्व विचार आदि
रागद्वेषकी उत्पत्ति हो जावे उस जगह मर्या
करना दोष ही है। यहां कोई शंका करे।
कल्पना है, आगममें यह बात नहीं है ?
कि सर्व ही आगम रागद्वेषके त्यागके लिये
साधु उपसर्ग और अपवादरूप या निश्चय
कहे हुए नय विभागको नहीं जानते हैं ...
कोई नहीं।

साथ रहनेमे अपने चारित्रमें व श्रद्धामें कमी नहीं आसक्ती है, किन्तु जो चारित्र पालनेमें शिथिलाचारी होंगे उनका श्रद्धान भी शिथिल होगा। ऐसे गुणहीनोंकी सगति यदि दृढ़श्रद्धानी या दृढ़-चारित्री करने लगेगा तो बहुत सभव है कि उनके प्रमादसे ये भी प्रमादी हो जाय और ये भी अपने श्रद्धान व चारित्रको भ्रष्ट कर डालें। यदि हीन चारित्री साधु अपनी सगतिको चाहें तो पहले उनका चारित्र शास्त्रोक्त करा देना चाहिये। यदि वे अपना चारित्र ठीक न करें तो उनके साथ रहना आदि क्रियायें न करनी चाहिए। यदि कोई विशेष विद्वान भी है और चारित्रहीन है तो भी वह सगतिके योग्य नहीं है। यदि कदाचित् उससे कोई ज्ञानकी वृद्धि करनेके लिये सगति करनी उचित हो तो मात्र अपना प्रयोजन निकाल ले, उनके साथ आप कभी शिथिलाचारी न होवे।

श्रमणका भाव यह रहना चाहिये कि मेरे परिणामोंमें समता भाव रहे, राग द्वेषकी वृद्धि न होजाय-जिन जिन कारणोसे रागद्वेष पैदा होना सभव हो उन उन कारणोसे अपनेको बचाना चाहिये।

स्वामीने दर्शन पाहुड़में कहा है कि श्रद्धान रहितोंकी विनय नहीं करना चाहिये।

जे वि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण ।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं ॥ १३ ॥

भावार्थ-जो लज्जा, भय आदि करके श्रद्धानभ्रष्ट साधुओंके पगोंमें पड़ते हैं उनके भी पापकी अनुमोदना करनेसे रत्नत्रयकी प्राप्ति नहीं है। श्री कुलभद्र आचार्यने सारसमुच्चयम कहा है—

कुसंसर्गः सदा त्याज्यो दोषाणां प्रविधायकः ।
सगुणोऽपि जनस्तेन लघुतां याति तत्क्षणात् ॥ २९६ ॥

सत्संगो हि बुधैः कार्यः सर्वकालसुखप्रदः ।
तेनैव गुरुता याति गुणहीनोऽपि मानवः ॥ २७० ॥
रागादयो महादोषा खलास्ते गदिता बुधैः ।
तेषां समाश्रयास्त्याज्यस्तत्त्वविद्भिः सदा नरैः ॥ २७२ ॥

भावार्थ—सर्व दोषोंको बढानेवाले कुसगको सदा ही छोड देना चाहिये, क्योंकि कुसगसे गुणवान मानव भी शीघ्र ही लघुतामें प्राप्त होजाता है। बुद्धिमानोंको चाहिये कि सर्व समयोंमें सुख देनेवाले सत्संगको करें इसीके प्रतापसे गुण हीन मनुष्य भी बडेपनेको प्राप्त होजाता है। आचार्योंने रागादि महा दोषोंको दुष्ट कहा है इसलिये तत्वज्ञानी पुरुषोंको इन दुष्टोंका आश्रय बिल्कुल त्याग देना चाहिये।

उत्थानिका—आगे लौकिक जनोंकी संगतिको मना करते है—

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसायो तवोधिगो चावि ।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥८८॥
निश्चितसूत्रार्थपदः समितकषायस्तपोधिकश्चापि
लौकिकजनसंसर्गं न त्यजति यदि संयतो न भवति ॥८८॥

अन्वय सहित सामान्य—(णिच्छिदसुत्तत्थपदो) जिसने सूत्रके अर्थ और पदोंको निश्चय पूर्वक जान लिया है, (समिदकसायो) कषायोंको शांत कर दिया है (तवोधिगो चावि) तथा तप करनेमें भी अधिक है ऐसा साधु (जदि) यदि (लोगिगजणसंसग्गं) लौकिक जनोंका अर्थात् असंयमियोंका या भ्रष्टचारित्र साधुओंका संगम (ण चयदि) नहीं त्यागता है (संजदो ण हवदि) तो वह संयमी नहीं रह सक्ता है।

विशेषार्थ—जिसने अनेक धर्ममई अपने शुद्धात्माको आदि

स्वरूप पदार्थोंको बतानेवाले सूत्रके अर्थ और पदोंको अच्छी तरह निर्णय करके जान लिया है, अन्य जीवोंमें व पदार्थोंमें क्रोधादि कषायको त्याग करके भीतर परम शांतभावमें परिणमन करते हुए अपने शुद्धात्माकी भावनाके बलसे वीतराग भावमें सावधानी प्राप्त की है तथा अनशन आदि छ बाहरी तपोंके बलसे अंतरंगमें शुद्ध आत्माकी भावनाके सम्बन्धमें जोगोंसे विजय प्राप्त किया है ऐसा तप करनेमें भी श्रेष्ठ है। इन तीन विशेषणोंसे युक्त साधु होनेपर भी यदि अपनी इच्छासे मनोक्त आचरण करनेवाले भ्रष्ट साधुका व लौकिक जनोंका संसर्ग न छोड़े तो वह स्वयं संयमसे छूट जाता है। भाव यह है कि स्वयं आत्माकी भावना करनेवाला होनेपर भी यदि संवर रहित स्वेच्छाचारी मनुष्योंकी संगतिको नहीं छोड़े तो अति परिचय होनेसे जैसे अग्निकी संगतिसे जल उष्णपनेको प्राप्त होजाता है ऐसे वह साधु विकारी होजाता है।

भावार्थ-इस गाथामें भी आचार्यने कुसंगतिका निषेध किया है। जो साधु बहु शास्त्रज्ञ है शांत परिणामी है और तपस्वी है वह भी जब भ्रष्ट साधु ऐसी संगति करता है तथा असंयमी लोगोंके साथ बैठता है, बात करता है तो उनकी संगतिके कारण अपने चारित्रमें शिथिलता कर लेता है। गृहस्थोंको दूर बैठाकर केवल जो धर्मचर्चा करके उनको धर्म मार्गमें आरूढ़ करता है वह कुसंगति नहीं है, किंतु गृहस्थोंको अपने ध्यान स्वाध्यायके कालमें अपने निकट बैठाकर उनके साथ लौकिक वार्ता करना जैसे-दो गृहस्थ मित्र बातें करें ऐसे बात करना-साधुओंमें मोह बढ़ानेवाला है तथा समता भावकी भूमिसे गिरानेवाला है। परिणामोंकी विचित्र

गति है। जैसा बाहरी निमित्त होता है वैसे अपने भाव बदल जाते हैं। इसी निमित्त कारणसे बचनेके लिये ही साधुजनोंको स्त्री पुत्रादिका सम्बन्ध त्यागना होता है। धनादि परिग्रह हटानी पडती, वन गुफा आदि एकान्त स्थानोंमें वास करना पडता, जहां स्त्री, नपुंसक व लौकिक जन आकर न घेरें। अग्निके पास जल रक्खा हो और यह सोचा जाय कि यह जल तो बहुत शीतल है कभी भी गर्म न होगा तो ऐसा सोचना बिलकुल असत्य है, क्योंकि थोड़ीसी ही संगतिसे वह जल उष्ण होजायगा ऐसे ही जो साधु यह अहंकार करे कि मैं तो बडा तपस्वी हूं, मैं तो बडा ज्ञानी हूं, मैं तो बड़ा ही शांत परिणामी हूं, मेरे पास कोई भी बैठे उठे उसकी संगतिसे मैं कुछ भी भ्रष्ट न हूंगा वही साधु अपने समान गुणोंसे रहित भ्रष्ट साधुओंकी व संसारी प्राणियोंकी प्रीति व संगतिके कारण कुछ कालमें स्वय संयम पालनमें ढीला होकर असंयमी बन जाता है। इसलिये भूलकर भी लौकिक जनोंकी संगति नहीं रखनी चाहिये। श्री मूलाचार समाचार अधिकारमें लिखा है —

णो कप्पदि विरदाण विरदीणमुवासयम्हि चिट्ठेदं।
तत्थ णिसेज्जउवट्ठणसज्झायाहारभिक्खवोसरणं ॥ १८० ॥
कण्णं विधवं अंतेउरियं तह सइरिणी सलिंगं वा।
अचिरेणल्लियमाणो अववादं तत्थ पप्पोदि ॥ १८२ ॥

भावार्थ—साधुओंको उचित नहीं है कि आर्जिकाओंके उपाश्रयमें ठहरें। न वहां उनको बैठना चाहिये, न लेटना चाहिये, न स्वाध्याय करना चाहिये, न उनके साथ आहारके लिये भिक्षाको जाना चाहिये, न [illegible] करना चाहिये, न मल मूत्रादि करना